प्रोफेसर रामदरश मिश्र

(सरस्वती सम्मान से सम्मानित व्यक्तित्व)

(संरक्षक)

INTERNATIONAL PEER- REVIEWED(REFEREED) JOURNAL

RNI (UPHIN/2021/80567) **साहित्य मेघ** ISSN: 2583 - 5750

(साहित्यिक हिंदी मासिक)

प्रकाशन का आरंभिक माह /वर्ष : अप्रैल 2021

सम्पादक मण्डल

भारत

प्रोफ़ेसर ओमप्रकाश सिंह
भारतीय भाषा केन्द्र,जे.एन.यू.
नई दिल्ली
ई.मेलःopsingh@mail.jnu.ac.in
मोब.:9899446861

प्रोफ़ेसर चन्द्रदेव यादव
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया,नई दिल्ली
ई.मेलःcyadav@jmi.ac.in
मोब.: 9818158745

प्रोफ़ेसर शिवप्रसाद शुक्ल
हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज 211002
ई.मेलः shuklashiv67@gmail.com
मोब.:7016394609

प्रोफेसर जितेंद्र श्रीवास्तव
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग
इंदिरा गांधी ओपन विश्वविद्यालय (इग्नू),
नई दिल्ली
ई.मेलःjksrivastava@ignou.ac.in
मोब.:9818913798

प्रोफेसर राज कुमार
हिंदी विभाग,काशी हिंदू विश्वविद्यालय ,वाराणसी
ई.मेलःdrrajkumar@bhu.ac.in
मोब.: 9415201281

प्रोफेसर प्रभाकर सिंह
प्रोफेसर,हिंदी विभाग,काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी
ई.मेलःprabhakarhindi@bhu.ac.in
मोब.:9450623078

प्रोफेसर श्रद्धा सिंह
हिन्दी-विभाग,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी
ई.मेलःshraddha.singh@bhu.ac.in
मोब.:9415530587

डॉ.आभा गुप्ता ठाकुर
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,वाराणसी
ई.मेलःabhag.hindi@bhu.ac.in
मोब.:9450960955

डॉ.गाजुला राजू
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
211002
ई.मेलःraju.g@allduniv.ac.in
मोब.:9059379268

डॉ.जर्नादन
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
ई.मेलःjanardan@allduniv.ac.in
मोब.:9026258686

डॉ.बिजय कुमार रबिदास
सहायक आचार्य
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
211002
ई.मेलःbkrabidas@allduniv.ac.in
मोब.:9432345604

विदेश

प्रोफ़ेसर उल्फत मुखीबोवा
Tashkand State
University of
Oriental Studies,
Tashkand,Uzbekistan
dmuhiddinova@inbox.ru
ई.मेलःulpatxon_muxibova@tsuos.uz
WHATSAPP:998946443037

प्रोफ़ेसर ग्युज़ेल स्त्रेलकोवा
एशिया और अफ्रीकी देश
अध्ययन संस्थान,मास्को राजकीय
विश्वविद्यालय,मास्को
ई.मेलःstr@iaas.msu.ru.
ई.मेलःstrelkova.guzel@gmail.com
WHATSAPP: +79199933635

Dr.Farzaneh Azam Lotfi
Associate Professor
Department of foreign
languages
University of Tehran
Iran
ई.मेलःf.azamlotfi@ut.ac.ir

प्रकाशक, मुद्रक और मालिक डॉ.मो.सलीम ने अज़ीम इंडिया प्रिंटर्स, अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) में छपवा कर 483,अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) से प्रकाशित किया।सम्पादक डॉ.मो.सलीम,483,अटाला,प्रयागराज (इलाहाबाद)।सभी मामले प्रयागराज (इलाहाबाद) की ही अदालत में होंगे।

सम्पादक

PEER- REVIEWED BOARD (INTERNATIONAL)

साहित्य मेघ

(सहित्यिक हिंदी मसिक) प्रकाशन का आरंभिक माह /वर्ष : अप्रैल २०२१

RNI (UPHIN/2021/80567) ISSN: 2583 - 5750

१.प्रोफेसर (डा.)कनुभाई निनामा (हिंदी विभाग)
एम. एस.यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा-३९००२,गुजरात
मोब.:8160119889 ,8141122233
ई.मेल:k.v.ninama-indi@msubaroda.ac.in

२.प्रो. चन्द्रकान्त सिंह प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय
धौलाधार परिसर-एक,
धर्मशाला, जिला-कांगड़ा,हि.प्र.-१७६२१५
दूरवाणी- ९८०५७९२४५५/८२१९९३९०६८
ईमेल-chandrakants166@hpcu.ac.in

३.डॉ.सुनील कुमार मांडीवाल,(हिंदी विभाग)
ऐसोसिएट प्रोफेसर,दयालसिंह कॉलेज,लोदी रोड़,
दिल्ली विश्वविद्यालय,नई दिल्ली।
मोब.: ७८४००२०२२५
sunilkumarmandiwal@dsc.du.ac.in

4.Dr Vijender Singh Chauhan
Associate Professor
Zakir Husain Delhi College
JLN Marg New Delhi
Mobile:Ph 9868009636
E.Mail:vijender@zh.du.ac.in

5.Dr. Satyadeo Prasad (ASST.Professor)
Hindi Dept Assam Central University
Diphu, Karbi Anglong,Assam
Mobile:9477722427
E.mail:satyadeo.prasad@aus.ac.in

६.प्रो डॉ राम आह्लाद चौधरी
प्रोफेसर, कलकत्ता विश्वविद्यालय
८७/१ कॉलेज स्ट्रीट, कोलकाता -७०००७३
Email:-ramahlad@gmail.com
मोबाइल -९४३२०५१५००

7.PROFESSOR (DR.)JAI MANGAL PANDEY
HEAD,DEPT. OF SANSKRIT, B.N.K.B.P.G.
COLLEGE,AKBARPUR,AMBEDKAR NAGAR
EMAIL: jaimangalpandey446@gmail.com
MOB:8707601411

8.Dr. CHANDER PRAKASH DADLANI
Head Department of Sindhi
S.P.C. Govt. P.G. College (M.D.S.Univ. Ajmer)
Mob.:91 8764208599
E-mail: chander.dadlani@gmail.com

9.Dr BAIKUNTH NATH SHUKLA
Associate professor Head, Dept Of Sanskrit
NMSN DASS PG College, Badaun-UP
Affiliated to MJP Rohilkhand University ,Bareilly
Mob No.9450836273
Email ID anubaikunth.7375@gmail.com

10.Archana Pandey(Kidderpore College)
2&3, Pitamber Sircar Lane, Kolkata -23
Mob-9830839032
Email ID - pandeyarchanaphd@gmail.com

विदेश

१.प्रो. उलफ़त मुहीबोवा
ताश्कन्द राजकीय प्राच्य विद्या विश्विद्यालय,
उज़्बेकिस्तान
Email: ulfatmuhib8@mail.ru,
Ulfatmuhib8@gmail.com
Mob No. +998 94 644 30 37

२.प्रोफ़ेसर ग्युज़ेल स्त्रेलकोवा
एशिया और अफ्रीकी देश
अध्ययन संस्थान,मास्को राजकीय विश्वविद्यालय,मास्को
ई.मेल:str@iaas.msu.ru.
ई.मेल:strelkova.guzel@gmail.com
WHATSAPP: +79199933635

३.डॉ नीलूफ़र खोजएवा
ताशकंद राजकीय प्राच्या विश्वविद्यालय दक्षिणी एशियाई भाषाओं और साहित्य उच्च विभाग के अध्यक्ष।
WhatsApp.:+998946442799
E.Mail:nilufarkhodjaeva@gmail.com

साहित्य मेघ

sahityamegh.com
sahityamegh@gmail.com

दिसम्बर२०२४
वर्षः४, अंकः१२

डॉ. दानिश
9919142411 *प्रधान संपादक*
डॉ.तबस्सुम जहां
9873104110
उप-संपादक (अवैतनिक)

डॉ.राजविंदर कौर
9759912434
सह-संपादक (अवैतनिक)
कृष्ण कुमार जायसवाल (प्रूफ रीडर) 9450827797
सिमरन (प्रूफ रीडर) 7683044644

निगमिक पूँजी बनाम सलीब पर लोकतंत्र	प्रो शिवप्रसाद शुक्ल	४
रामचंद्र शुक्ल के कबीर संबंधी मूल्यांकन का पुनर्पाठ	डॉ.करुणाशंकर उपाध्याय	१०
राष्ट्र निर्माण में भारतीय भाषाओं की भूमिका	प्रो.डॉ.राम आह्लाद चौधरी	१६
एंन्कोडिंग एवं लिपि चिन्हों का अंतरसंबंध	**डॉ गिरीश चन्द्र पाण्डेय**	२९
राष्ट्रीय चेतना और रीतिकालीन प्रवृत्तियों का मूल्याँकन	संजय गौतम	३३
छायावाद का अर्थ, अभिव्यंजना और स्वच्छंदतावादी विशेषताएं व प्रमुख स्तंभ (प्रसुमन) कवियों की कृतियों का संक्षिप्त परिचय	डा.रीता तिवारी	३८
चंद्रबती रामायण उर्फ सीतायण : स्त्री-विमर्श की आदि-पुस्तिका	नीलिमा चौहान एवं विजेन्द्र सिंह चौहान	५१
संस्कार : मानवीय द्वंद्व की महागाथा	संजीव कुमार मिश्र	५७
कृतकर्मफलभोग-विमर्श	रत्नेश पाण्डेय	६२
छायावाद और स्वच्छंदतावाद	ओम प्रकाश यादव	६५
कुँवर नारायण के काव्य में मानवाधिकार	किरन राजभर	७२
शिवपूजन सहाय की उत्कृष्ट संपादन कला	राजेश्वरी मौर्य	७७
वैश्विक परिदृश्य में रामायण का रामायणत्व	***डॉ. बैकुण्ठ नाथ शुक्ल***	८२
चरण सिंह पथिक की कहानी 'पीपल के फूल' में पर्यावरण बोध	सोनू कुमार ठाकुर	८६
समकालीन परिस्थितियाँ और संजीव की 'अपराध' कहानी	धर्मवीर सिंह	९२
सर्जना और आलोचना नई दृष्टि से कविता की परख	सुनील कुमार यादव	९६

निगमिक पूँजी बनाम सलीब पर लोकतंत्र

प्रो शिवप्रसाद शुक्ल

हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज २११००२
एआर जेड नं.१८ चक तेजऊ दीक्षित, गंगापुरम,
अरैल, नैनी, प्रयागराज - २११००८
मोबाईल ७०१६३९४६०९/९४०९२१४६१९
email:shukla.shiv67@gmail.com

समकालीन कविता या साहित्य या विमर्श पढ़ने लायक ही नहीं है। हिन्दी साहित्य की शुरुआत सत्ता के प्रतिरोध से हुई थी परंतु सत्ता से पुरस्कार या नौकरी या दोनों के चक्कर में तथाकथित बड़े-बड़े रचनाकार कबीर, कुंभनदास, घनानन्द, बालमुकुंद गुप्त, निराला, त्रिलोचन, नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल एवं शरण कुमार लिंबाले की परंपरा को कलंकित कर रहे हैं। लेकिन सत्ता से कभी भी समझौता न करने वाले डॉ जगन्नाथ पंडित की साहित्य यात्रा काफी अटपटी रही। नौकरी के लाले पड़ने पर जिस आचार्य रघुवीर चौधरी ने चयन समिति में पीरजादा के कारण रहे उन्होंने भी उनकी किताब छापने के लिए रुपए लिए या विश्वविद्यालय में ऐसे आचार्यों की नियुक्ति की जिनका साहित्य से कोई लेना देना नहीं है। फिलहाल डॉ जगन्नाथ पंडित का जीवन और रचना संसार दुम हिलाने वाले शोध छात्रों या आचार्यों की तरह नहीं है, उनकी जन प्रतिबद्धता जगजाहिर है। उन्होंने 'नागार्जुन का काव्य और युग अन्तः संबंधों का अनुशीलन', 'समकालीन हिन्दी कविता का परिप्रेक्ष्य', 'सामाजिक प्रतिबद्धता और साहित्य', 'समकालीन रचनाशीलता और सुधेश का रचनालोक', 'मार्क्सवादी समीक्षक डॉ शिवकुमार मिश्र तथा अन्य निबंध' जैसी आलोचनात्मक किताबें लिखकर जन सामान्य के प्रति प्रतिबद्धता दिखलाई। हालाँकि कवि होने के कारण जगन्नाथ पंडित में बौद्धिक काँइयापन नहीं है। इसीलिए उनकी आलोचना एवं साहित्य में ऐतिहासिक वैचारिक विवेचन के साथ रचनात्मक अंतर्संघर्ष साफ परिलक्षित होता है। उनके कहानी संग्रहों में 'हिंग्लोट', 'रोटी का राग', 'संगीनों के साये में', 'सल्तनत का सिपाही' आदि पढ़ने पर उनके वैयक्तिक एवं सार्वजनिक आत्म संघर्षो को भली प्रकार समझा जा सकता है। डॉ पंडित दिखावेबाजी या आत्मश्लाघा या विज्ञापन से दूर रहकर साहित्य साधना करते हैं। इसीलिए उनकी समग्र सृजन क्षमता का पता ससहृदयों या पाठकों को उड़िया के हलधर नाग की तरह नहीं है या यों कह लीजिए गुट या खेमेबाजी से काफी दूर हैं। ऐसे एकांत साधक ने 'समय के समर में', 'समर गाथा', 'समाजवाद का घोड़ा', 'कठघरे में खड़ा आदमी', 'रौंदे हुए घरौंदे', के बाद 'सलीब पर लोकतंत्र' ड२०२३आदि काव्यसंग्रहों को लिखकर लोकतान्त्रिक, समाजवादी, मार्क्सवादी दृष्टि को वैयक्तिक आत्मसंघर्ष के माध्यम से और पैना बनाया है। विचारधारा कोई भी हो जब तक उसका अक्षरशः जीवन और रचना में पालन नहीं होगा तब तक साहित्य और विचार में जीवंतता नहीं होगी। कोई भी प्रायोजित साहित्य या विचारधारा कुकुरमुत्ते की तरह आते और चले जाते हैं। मार्क्सवादी नखरे एवं नकली चेहरे के चलते अस्मितामूलक विमर्शवादी-विचारधारों प्रकाश में आईं और उनको ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले तथाकथित अस्मिताविमर्शवादी सूरजपाल चौहान के 'नया ब्राह्मण

'की अवधारणा के चलते लोकतंत्र सूली पर चढ़ता जा रहा है। निगमिक पूँजी, विशेष आर्थिक परिक्षेत्रों एवं हरे आर्थिक परिक्षेत्रों क़े चलते सामान्य लोगों, महिलाओं एवं वनवासियों की हालत बद से बदतर होती जा रही है। डॉ जगन्नाथ पंडित का जीवन एवं रचना संसार एक दूसरे के पूरक हैं। उनके काव्यसंग्रह 'सलीब पर लोकतंत्र 'की साठों कविताओं में कचोट, संघर्ष, असमंजस एवं भ्रष्टाचार के निदर्शन होते हैं क्योंकि एक ओर अमृत महोत्सव दूसरी ओर बलात्कार, अपराध, चोरी, डकैती, भू, शिक्षा, धर्म, राजनीति माफ़ियाओं का बोलबाला लोकतंत्र को निगलता जा रहा है। डॉ पंडित का मन्तव्य है कि 'एक जिम्मेदार कवि की कविता में अपने समय की धड़कन को अवश्य पहचाना जा सकता है। वह संकट के समय शुतुरमुर्ग की तरह अपना सिर रेत में नहीं गाड़ लेता, बल्कि झंझावातों का सामना करते हुए उसे शब्दों में बाँधता है। हाशिए के लोगों के साथ उसकी सहानुभूति और समानुभूति होती है तथा वह उसके पक्ष में अपनी कविता को खड़ा करके अन्यायी सत्ता को चुनौती देता है।'[१]

सभी आचार्यों ने समय एवं परिस्थितियों के अनुसार कविता की परिभाषा गढ़ी है। उसी प्रकार डॉ जगन्नाथ पंडित भी 'कवि होने का अर्थ' कविता में लिखते हैं : 'कवि होने का अर्थ है-/प्रतिरोध को स्थायी भाव बनाना /अन्याय के खिलाफ अपने /भीतर आग जलाना /उस आग को जनसमूह में /पैदा करना /ताकि वह लामबंद हो सके /जनविरोधी ताकतों के खिलाफ।'[२] सामान्य तौर पर आज के कवि सत्ता से जुड़े होने के कारण सत्ता के खिलाफ साहित्य नहीं लिखते हैं। डॉ जगन्नाथ पंडित का स्वभाव आज के साहित्यकारों से बिल्कुल अलग हैं वे किसी भी आलोचक या पुरस्कार समिति के सदस्यों से भी बात करने के लिए तैयार नहीं होते हैं बल्कि उन लोगों की हजार कमियाँ गिना देंगे। ऐसे कवि जगन्नाथ पंडित की कविताओं या उनके साहित्य पर सामान्यतया कोई लिखने या पीएच.डी. करने के लिए तैयार नहीं है। पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती भारतेन्दु की रचनाशीलता या उर्दू के धनपतराय एवं हिन्दी के प्रेमचंद भी उर्दू में मुस्लिम पात्रों एवं हिन्दी में हिन्दू पात्रों का पूरा ध्यान रखते थे। जगन्नाथ पंडित इन साहित्यकारों से अलग कबीर, निराला, त्रिलोचन, नागार्जुन, मुक्तिबोध एवं धूमिल की परंपरा से जुड़ते हैं। वे किसी शील -संकोच में न पड़कर गलत को गलत ही बोलेंगे। लोकतंत्र की बरबादी सतत दिखायी दे रही हैः 'राजनेता चले जाएंगे /काल के गाल में/लेकिन उनके काले कारनामें /अंकित रहेंगे /इतिहास के पन्नों में /और देश की /चितकबरी दीवारों पर।'[३] भारतीय लोगों की मानसिकता कहीं न कहीं भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा देकर लोकतंत्र को कुचला जा रहा है। समग्र प्रजातन्त्र की दुर्गति विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में देखते बनती है। कवि इंद्रधनुष के बहाने भ्रष्टाचार को उजागर करते हैं : 'लेकिन प्रेरणा ले सकता है /तुम्हारे रूप -रंगों से, /अच्छा है कि तुम्हें कोई /पकड़ नहीं सकता /अन्यथा लुटेरे /तुम्हें भी लूटकर /धरती पर उतार लाते।'[४]

मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के साथ डॉ पंडित की श्रृंगारिकता कहीं न कहीं प्रतिबिंबित उनकी कविताओं में होती है। प्रेम सृजन का मूलाधार है, इस बारीकी को पंडित की कविताओं में देखा जा सकता हैः 'किया हुआ प्रेम /कभी मरता नहीं /- - - - - - -वह आता है ----/स्मृतियों की डोर के सहारे /और डंसकर चला जाता है /विस्मृति के बिल में।'[५] त्रिलोचन, नागार्जुन की प्रेम कविताएं काफी मुखर हैं जबकि पंडित की प्रेम कविताएं काफी गझिन एवं संवृत हैं। किसी भी विचारधारा का हो उसके प्रेम के ढंग से उसकी मानसिकता एवं संस्कृति का पता चलता है। पंडित का वैयक्तिक एवं राष्ट्र प्रेम सृजन धर्मिता के चलते प्रसंगोद्भावना के तमाम टूल्स जाने अनजाने उनकी कविताओं में देखा जा सकता है। जगन्नाथ पंडित की कविता में बारीकी निरीक्षण, आलोचना के साथ लोकतंत्र को विनष्ट करने वाले तत्त्वों को पहचाना, समझा और देखा जा सकता है। धन, औरत एवं शराब -कबाब के मारफ़त चुनाव को प्रभावित करके राजनीतिक, धार्मिक माफिया संसद में बहुमत बनाकर संवैधानिक प्रक्रिया को अपने अनुकूल करते जा रहे हैंः 'किसे पता था?/वह चुनाव के रास्ते /घुस आएगा /लोकमन्दिर में /और चुराकर ले जाएगा /कानून की किताब /जिसे तहस -नहस कर /लिखेगा एक नया संविधान।'[६] किसी भी देश के संविधान को बहुमत वाली सरकारें अपने अनुकूल बदलते रहे हैं। इसीलिए भारतीय संविधान आए दिन

बदलता रहता हैः 'मैंने समझ लिया है /उसके विकास का अर्थ है -/एक ढहता हुआ लोकतंत्र /और उसके खंडहर पर /खड़ा होता एक छद्म धर्मतंत्र।'[७]

राजनीति, धर्म एवं शिक्षा माफिया कहीं न कहीं लोकतंत्र को विनष्ट कर रहे हैं। निगमिक धन पशु लोकतंत्र को साँड की तरह चर खा रहे हैं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सरकार के मुताबिक निर्णय दे रहे हैं जिससे उन्हें राज्यपाल या कुछ और बनाया जाय। सत्ता की निरंकुशता से पंडित जी भली प्रकार परिचित हैं :'सत्ता कभी लिखती है -/अपना इतिहास / लहू की रोशनाई /और डंडे की कलम से /आग की लपट से /बुलडोजर और /बंदूक के कुंदे से।'[८] प्रेमचंद के लेख 'महाजनी सभ्यता'को सभी ने पढ़ा होगा। कबीर, सूर एवं प्रेमचंद के समय में संबंधों में बाजार दिखायी देता है, जाने-अनजाने बाजार हर क्षेत्र में पाँव पसार कर हैवानियत को बढ़ावा दे रहा हैः 'रिश्तों में पैबंद लगे हैं, दुनिया के परिवार में /दो पैसे में रिश्ते बिकते, सरेआम बाजार में। /शिक्षा बिकती दूल्हा बिकता, बिकती सुहाग की चूड़ी है, /खाली हाथ मजदूर भटकते, यह कैसी मजबूरी है। /धर्मध्वजी हैं धर्म बेचते, बिकते ट्रेन के टीटी हैं /अधिकारी की बात न पूछो, पिऊन बजाता सीटी है। /गहने मंगलसूत्र बिक गए, सेठों के कोठार में /दो पैसे में रिश्ते बिकते, सरेआम बाजार में।'[९] संविधान की परिभाषा, सिद्धांत एक ओर लोकजीवन में धर्म, भू एवं राजनीति के माफिया लोकतंत्र को अपनी मुट्ठी में ले रखा है यानी सामंती व्यवस्था से कहीं ज्यादा क्रूर निगमिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था है। कवि लोकतंत्र को अक्षरशः देखना चाहता है परंतु बौद्धिक कॉल गर्ल माफ़ियाओं की गणित लोकतंत्र को घुन की तरह खोखला करते जा रहे हैं : 'वे स्वप्न दिखाते रहें/लोग खुश होकर /नारे लगाते रहें /नाचते तालियाँ बजाते रहें /जयकार करते रहें /क्या यही तकाजा है /देशभक्ति और /लोकतंत्र का ?'[१०] लोकतंत्र मात्र १५ अगस्त एवं २६ जनवरी को दिखायी देता है उसके बाद हत्यारों का बोलबाला समग्र देश में देखा जा सकता है :'वह भी आम आदमी की तरह /रहता है हमारे साथ /नकाब लगाकर ,/मुस्कराता है दोस्त की तरह,/जेब में छिपाकर रखता है /नखदार पंजा,/और धर्मग्रंथ में /अपना आगामी एजेंडा।'[११] धार्यते इति धर्मः को कार्य ही पूजा है मानते हैं तो अच्छा होगा। लेकिन धर्म को अफीम की तरह प्रयोग किया गया तो उसके दुष्परिणाम देख सकते हैं। चुनाव का ध्रुवीकरण दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और नकली लोकतंत्र लोगों पर कहर ढा रहा है :'धर्म! आज तुम किसी के हाथ के /हथियार बन गए हो /बैर सिखाने लगे हो /भेद पैदा करने लगे हो /दो दिलों को जोड़ने कब आओगे?/ समरसता कब लाओगे?/अपना सौम्य चेहरा कब दिखाओगे?'[१२] लोकतंत्र की बदहाली का सवाल कवि के साथ सभी देशवासियों को सता रहा है। १५ अगस्त को लालकिला या चुनाव के समय जो वादे किए जाते हैं, आज तक उनकी पूर्ति कोई नहीं कर रहा है। इस जुमलेबाज लोकतंत्र को कैसे लोकतान्त्रिक बनाया जाय? कवि इससे काफी चिंतित है :'सत्तासीन होने पर / विकास की बात छोड़ /वे करते हैं गबन /पहुँचाते हैं कार्पोरेट घराने को फायदा /करते हैं व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप, /जिससे घायल होता है /विकास का पक्षी, / सत्ताधीश हो जाते हैं नरभक्षी। /अंततः सभी घोड़े / दिल्ली की सड़कों पर /संसद भवन के सामने /विकासरथ को छोड़कर /अलग -अलग हो जाते हैं /चरने के लिए / और सारथी भी /कर जाता है पलायन। (प्रजातन्त्र ने कहा- /'सावधान हो जाओ /और याद रखो- /प्रजातन्त्र से ही /तानाशाही का जन्म होता है।'[१३] लोकतंत्र की लचर-पचर स्थिति से हर भारतवासी त्रस्त है परंतु कोई कुछ बोलता ही नहीं है। लोकतंत्र का मशीनीकरण ही जर्जरित हो गया है। लोकतंत्र के नकली ढोल पीटने से भारतीयता की रक्षा नहीं हो सकती है। कवि लोकतान्त्रिक छद्मों को भली प्रकार समझता एवं जानता है। लोकतंत्र की रक्षा कवि की कविताई में साफ परिलक्षित होता है। कविता के मारफ़त लोकतंत्र की रक्षा कर पाना संभव होगा या नहीं जबकि कविता हाशिए पर चली गई, ऐसी विषम परिस्थिति में कवि कर्म कठिन होता जा रहा हैः 'रामभरोस को /लोकतंत्र के होने में संदेह है /उसने / एक तथाकथित देशभक्त से पूछा- /'लोकतंत्र कहाँ है?'/ 'देश में और कहाँ'?/लोकतंत्र लटका है /सलीब पर / नहीं पूछी जा रही /उसकी अंतिम इच्छा /वह एकटक देख रहा /राजा, प्रजा और /संविधान की ओर।'[१४] समसामयिक समस्याओं पर कविता लिखना काफी कठिन

होता है, परंतु डॉ पंडित लोकतंत्र की विसंगतियों को कविता के माध्यम से उठाते हैं। किसी भी पार्टी की सरकार बने परंतु सांसद अपनी मर्जी अनुसार संविधान का अर्थ घटन करते हैंः 'मणिपुर जल रहा है /पूरब का स्विटजरलैंड जल रहा है /निर्वस्त्र की जाती स्त्रियों की / चीख -पुकार की आवाजें /वे जब आँखें मूँद लेते हैं / कान बंद कर लेते हैं /मुँह से आवाजें नहीं निकलतीं / तब उसका मौन कुछ कहता है।'[१५] कश्मीर, मणिपुर या सीमावर्ती देश भारत की सहिष्णुता के बहाने या पार्टियों की मिलीभगत से दंगे -फसाद पड़ोसी देशों से होते रहते हैं। नेता अपनी सरकार बनाने एवं मतदान बढ़ोत्तरी में कुछ भी कर सकते हैं। प्रजा का ध्यान रखने वाला कोई नहीं है। किसी भी प्रकार से विस्थापित या सांप्रदायिक दंगेग्रस्त लोगों को आज तक ठिकाना नहीं मिला। कवि कविता के मारफ़त समस्या उठा सकता है परंतु चंदवरदाई की तरह शहादत नहीं दे सकता। फिलहाल लोकतंत्र लूटतंत्र में तब्दील होता जा रहा हैः 'फिर कहाँ गया / समता का अधिकार?/कहाँ गई अहिंसा /और आजादी?/ फिर भी सुशासन और /देश महान का नारा /गूँज रहा है धरती से आकाश तक।'[१६] लोकतान्त्रिक जुमलेबाजी से कवि आहत होकर अलग-अलग शीर्षक से लोकतंत्र की बदहाली को कविता का विषय बनाता है। अतीत के गौरवगान के बजाय कवि वर्तमान संघर्षों एवं झंझावातों को काव्यभाषा में यों ढालता है :''सोने की चिड़िया 'उपनाम /अब न सार्थक रहा /न प्रासंगिक /उसका वैभव लुट चुका है /घोंसला उजड़ चुका है /देशी-विदेशी लोगों द्वारा, /अब हम कैसे करेंगे /उसकी महानता का गुणगान?/ अब देनी होगी कोई दूसरी संज्ञा?'[१७] भ्रष्टाचार, रिश्वत, माफियागिरी भारत के हर परिक्षेत्र एवं संवैधानिक संस्थानों में व्याप्त है। कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं व्यवस्थापिका की प्रणाली से हम सब परिचित हैं। डॉ पंडित लोकतान्त्रिक पतन से काफी दुःखी होकर विभिन्न शीर्षकों में कविताएं लिखकर अपना फर्ज निभा रहे हैं। इन ७६ वर्षों में भारत के लोकतान्त्रिक ढाँचे का तटस्थ मूल्यांकन किया जाय तो तमाम तब्दीलियाँ दिखायी देंगी :'एक नहीं, हजारों साँड /छुट्टा घूमकर चरते हैं /हमारे विचारों और /संस्कृति की फसलों को /कोई उनसे पूछे -/कलम - किताब छोड़कर /हाथ में झण्डा, डंडा, /आग और पत्तर लेकर घूमने वालों, /दूसरों की फसल बेरोक-टोक / चरनेवालों /तुम्हारा भविष्य क्या है?'[१८] लोकतान्त्रिक पतन सांसदों एवं सरकारी मशीनरी द्वारा सतत हो रहा है। उसके खिलाफ सवाल खड़ा करने वाले हैं सिर्फ कवि पंडित। सलमान रशदी या तसलीमा नसरीन की तरह देश निकाला या कलबुरगी की तरह मौत के घाट कोई उतरना नहीं चाहता है। डॉ पंडित किसी भी प्रकार की चिंता किए बिना साहित्य साधना में लीन हैं :'सर! / राजा से क्या सीखा जा सकता है?' /'झूठे वायदे करके /झूठ को सच की तरह /परोसने और /सच को गायब करने की कला, /तीखे सवालों से बचने, /माफिया को शरण देने, /और- /अपना दोष विपक्ष पर मढ़कर /उसे खत्म करने का हुनर, /'सर!सम्राट चन्द्रगुप्त से /कुछ नहीं सीखा जा सकता?' /'बहुत कुछ /पर अभी इतना ही।'[१९] तुलसी ने लिखा 'प्रभुता पाहि काहु मद नाही' तो लोकतंत्र के पहरुए अपने आपको विधाता ही मानने लगे हैं। मीडिया चिल्लाए या न चिल्लाए परंतु मोटी चमड़ी वाले कलयुगी नेता संसद में बैठकर जितने भी काले कारनामे करना हो करते रहते हैं : 'कलयुगी नेता हमारे /हृदय के जेता हमारे /देश-विक्रेता हमारे। /वादे दुहराना आदत उनकी, होंठों पर मुस्कानें सजतीं, /कुर्ता पाजामा की सफेदी /देह पर है खूब फबती। /पर अंतर्मन बने रहे कारे के कारे। कलयुगी - - -'[२०] सांप्रदायिक दंगे, नकली कत्लेआम, क्षेत्रवाद, अल्पसंख्यक आदि मुद्दों को परिस्थितियों के अनुसार उछालता और अपनी रोटी सेंकने में माहिर आज के सांसद राजनीति को दुधारू गाय की तरह उपयोग कर रहे हैं। भीष्म साहनी के तमस की तरह मुराद अली जैसे लोग आज भी सांप्रदायिक झगड़े करवाकर संसद में सत्ता-विपक्ष आपस में भिड़ते और रियायत दर की संसद के कलेवालय एवं दोपहर का भोजन लेते। जगह-जगह रेल की पटरियों को क्षत -विक्षत करवाकर रेल दुर्घटना के बहाने सरकार को घेरते हैं : 'कोई था- /जो तमन्ना रखता था /अपना कैरियर चमकाने /और- /सबका मसीहा बनने की। वह कभी चिनगारी फेंक देता /किसी की झोपड़ी पर /और उसकी सुराग ढूँढी जाती /किसी दाढ़ी, लुँगी और / ताबीज वाले के यहाँ /सियासत तेज हो जाती /लपटें उठने लगतीं /कत्लेआम शुरू हो जाता।'[२१]

जगन्नाथ पंडित एक ऐसे आलोचक कवि जिनकी निगाह लोकतंत्र के आद्यंत अनर्गल का निरीक्षण चीरफाड़ करके लोकतंत्र की गरिमा को बचाकर जनसामान्य के जीवन को नई ऊर्जा प्रदान करना है। प्रजा में असंतोष सतत बढ़ता जा रहा है। केंद्र या राज्य सरकारें नाना प्रकार के विकास के नाम प्रलोभन देकर प्रजा को ठग रही हैं : 'अन्यायियों से लड़ते हुए /अपना बलिदान देने के बजाय /मजहब का मटमैला पानी /निरर्थक बरसा रहे हो, कर रहे हो /प्रजा को विषाणु -संक्रमित /और सबको अपने रंग में /रंग जाने की /दे रहे हो सीख।'[२२] गाँधी को पटेल एवं नेहरू ने जिस तरह से भुनाया, वह जगजाहिर है। गाँधी की एक भी बातें कोई भी सरकारें नहीं मानती हैं, भले विश्व उन्हें पूजता रहेः 'गाँधी के उपदेशों को /भले न मानते हो /लेकिन उनकी प्रतिमा के /आस-पास रहते तो हो /यही क्या कम है?/लोग जरूर कहेंगे -/गाँधी के चेलों ने /उन्हें याद तो रखा है।'[२३] लोकतान्त्रिक जीवन, अर्थव्यवस्था, परिवार, जाति, धर्म, संप्रदाय, समाज, प्रदेश, देश एवं विश्व को बनाना दिन -प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। अनपढ़ एवं बौद्धिक की संकीर्णताएं उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। कवि बीच -बीच में स्मृतियों के बहाने प्रेम को सृजनधर्मी आयामों से काव्यभाषा में टाँकता है। यादें, दोस्ती, नैतिकता कविताएं तमाम पर्त दर पर्त का पर्दा उठाती हैं। कवि ने 'खोज' कविता में पक्षी, प्रेमी, माँ, स्त्री, छात्र, नेता, घूसखोर मंत्री एवं भिखारी की आकांक्षाओं को भली प्रकार कविता में ढाला है :'एक भिखारी खोज रहा है / देश में आजादी और /कूड़े के ढेर में /जीवन की बड़ी उपलब्धि -/रोटी का टुकड़ा।'[२४] एक व्यक्ति रोटी के लिए तड़प रहा है वहीं सांसद एवं विधायक रियायत दर पर कलेवा एवं दोपहर का भोजन ले रहे हैं। जल, जंगल एवं जमीन का संकट गहराता जा रहा है। विकास की गति तेज हो इसका मतलब यह नहीं कि पर्यावरण पर ध्यान न दिया जाय। जल ही जीवन है। कवि सूरज के मारफ़त जल संकट की ओर ही इशारा कर रहा है :'बादल! तुमसे हमें दान नहीं, /हमारा ही लिया हुआ /जलधन वापस चाहिए /तुम्हें संग्रह करने से क्या फायदा?/तुम तो सिर्फ माध्यम हो।'[२५] कवि को मालूम होगा कि बिचौलिए ही ज्यादा मुनाफा कमा रहे हैं वे चाहे उबेर या ओला या अंबानी या अदानी ही क्यों न हों? सूरज ऐसे ही पानी नहीं लौटाएगा? उस मशीनरी यानी पर्यावरण को शुद्ध रखना होगा। अस्मितामूलक विमर्श के बहाने उसी वर्ग के बौद्धिक साँड अपने ही वर्ग का शोषण 'नया ब्राह्मण' के रूप में कर रहे हैं। 'वह कौन है ?', 'इक्कीसवीं सदी में भी ', 'बेटी बचाओ' एवं 'दहेज की किश्त' जैसी कविताओं में स्त्री, बहू एवं बेटी पर मडराते संकट को बारीकी से काव्यभाषा में निरूपित किया है। कवि ने प्रत्येक कविता में लोकतान्त्रिक मूल्यों के विघटन के विविध पहलुओं को काव्यभाषा में निरूपित करते समय अभिज्ञान एवं स्थिति विपर्यय का पूरा ध्यान रखा है जिससे कविता की अनेकार्थकता स्पष्ट हो जाती हैः 'उसका नाम है गोमती/कितना पवित्र और प्यार-सा नाम!/गोमती की धारा /बहा ले जाती है कचरा /यह गोमती भी बुहारती है /घर का कचरा /पोंछा लगाती है, /कभी नई मालकिन /कभी बूढ़ी सेठानी /कभी सेठ / सब बारी-बारी से बरसकर चले जाते /लेकिन वह क्यों नहीं कह पाती /अपने दिल की बात?/काश !उसके मुँह में ज़बान होती /और यह समझ पाती कि /'अन्याय सहना अन्याय को बढ़ावा देना है।'[२६] कवि को भली प्रकार पता है कि शोधछात्र निर्देशक के सामने, अधिकारी मंत्री के सामने, प्रोफेसर कुलपति के सामने एवं कोई किसी पर आश्रित है तो मालिक के सामने नहीं बोलते हैं तो गोमती नदी या कामवाली स्टार्टअप इंडिया के फॉर्मूले को भली प्रकार समझती है, सबका मौन लोकतंत्र को उत्तरोत्तर डुबो रहा है। 'इलाज आँसू का', 'आइसक्रीम', 'आग ', 'सौदागर ', 'वक्त' आदि व्यंजनात्मक कविताएं युग की पाशविकता को भली प्रकार उभरती हैं। लोकतंत्र धन, धर्म, शराब-कबाब, लफंगों, माफ़ियाओं एवं बाहुबलियों के गिरफ्त में आ गया है। कवि चाहे 'सोना -पीतल संवाद', 'दूध में नहाते पत्तर', 'सरस्वती -पूजन', 'राम भरोसे', 'मिथक बनता यथार्थ', 'चेहरा', 'ये अद्भुत कहानी', 'मन-उपवन में', 'मुट्ठी भर-भर बीज', 'लॉकडाउन', 'युद्ध', 'मासूमियत और बारूद', 'मछली और काँटा', 'उसकी झोपड़ी', 'लाल सबेरा', 'कहाँ से चले थे?', 'चाँदनी', 'हमारा कॉलेज' आदि कविताओं में निरूपित व्यथा कहीं न कहीं लोकतंत्र की पोल खोलती हैं। कवि की श्रृंगारिकता के विविध आयाम कहीं न कहीं

चाँदनी कविता के माध्यम से देखे एवं समझे जाते हैंः 'चाँद की लंबी कहानी रात भर सुनता रहा, /पर कभी सुनी नहीं, मेरी जबानी चाँदनी।'[२७] जगन्नाथ पंडित की काव्यभाषा व्यंजना एवं लक्षणा से युक्त होते हुए भी लोकतंत्र के अव्यवस्थित स्वरूप को भली प्रकार उद्घाटित करती हैं। काव्यभाषा में संप्रेषणीयता के सभी औजार एक साथ लोकतंत्र की विसंगति के अर्थोद्घाटन सटीक करते हैं। देश की बदहाली का यथार्थ नज़ारा कवि यों खींचता है :'कितना यहाँ अमन था, खुशहाल था गुलिस्ताँ /आकर उसे बंजर, बना दिए हो तुम।/मुल्क का उद्धार हो, सबकी यही तमन्ना/पाकर असीम ताकत, बौरा गए हो तुम।'[२८] लोकतंत्र की दयनीय स्थिति कवि की काव्यभाषा में साफ परिलक्षित होती है। कवि की आंतरिक मनोव्यथा के मारफ़त लोकतंत्र की चरर-मरर व्यथा मनोभाषा के तहत काव्यभाषा में उतरती हैः 'आँख खोल टकटकी लगाए बैठा हूँ /साँसों को लम्बा करता जाता हूँ, /पर नहीं दिखायी देता लाल सबेरा वह /जिसके आने की आस लगाए बैठा हूँ।'[२९] डॉ पंडित की काव्यभाषा में वैयक्तिक एवं समष्टिगत मनोव्यथा बड़ी बारीकी से लोकतंत्र के मोहभंग को उभारती है। भाषाई घटाटोप कहीं न कहीं लोकतान्त्रिक विघटन को सहज सम्प्रेषणीय एवं बोधगम्य काव्यभाषा में डॉ पंडित टाँकते जाते हैं। जन प्रतिबद्धता डॉ पंडित की काव्यभाषा में आद्यंत साफ देखा जा सकता है। ऐसे लोकतंत्र के रक्षक कवि से सहृदय और काव्यसंग्रहों की अपेक्षा रखेंगे। साहित्यकार एवं शिक्षक /प्राध्यापक मन, वचन एवं काया से एक हो जाएं तो भारतीयता की राष्ट्रीय सांस्कृतिक धरोहर को बचाया जा सकता है। जगन्नाथ पंडित जैसे कितने साहित्यकार एवं आचार्य हैं? कह पाना मुश्किल है। फिलहाल खोखले लोकतंत्र एवं दिखावटी राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत से 'कितने पाकिस्तान' को ही बढ़ावा मिल रहा है। 'जिहाद' एवं 'खून ए सफेद' कहानियों के मारफ़त प्रेमचंद धर्मांतरण का मुद्दा उठाया था। निगमिक पूँजी एवं लोकतान्त्रिक भ्रष्टाचार भी धर्मांतरण को बढ़ावा दे रहा है।

संदर्भ :

1- सलीब पर लोकतंत्र : पृष्ठ :-7-8 मेरी ओर से

2- कवि होने का अर्थ : पृष्ठ -12

3- गुमनाम : पृष्ठ -14

4- इंद्रधनुष के रंग : पृष्ठ -18

5- प्रेम मरता नहीं : पृष्ठ -19

6- किसे पता था? : पृष्ठ -21

7- भाँप लेता हूँ : पृष्ठ -23

8- सत्ता और इतिहास : पृष्ठ -24

9- रिश्तों में पैबंद लगे हैं : पृष्ठ -26

10- विश्वास का बाँझ वृक्ष : पृष्ठ -28

11- हत्यारा : पृष्ठ -32

12- चुनाव : पृष्ठ -35

13- विकास के नाम पर, यह प्रजातंत्र है : पृष्ठ -37, 40

14- सलीब पर लोकतंत्र : पृष्ठ -41,44

15- मौन कुछ कहता है : पृष्ठ -45,47

16- मापदंड : पृष्ठ -49

17- सोने की चिड़िया : पृष्ठ 50-51

18- साँड : पृष्ठ -52-53

19- सवाल : पृष्ठ 54-55

20- कलयुगी नेता हमारे : पृष्ठ -56-57 ,

21- सबका मसीहा : पृष्ठ -58-59

22- केसरिया बादल : पृष्ठ -61

23- गाँधी के तीन बंदर : पृष्ठ -63

24- खोज : पृष्ठ -69

25- सूरज : पृष्ठ -71

26- गोमती : पृष्ठ :77-78

27- चाँदनी : पृष्ठ -117

28- कहाँ से चले थे? : पृष्ठ 116

29- लाल सबेरा : पृष्ठ -114

●●

रामचंद्र शुक्ल के कबीर संबंधी मूल्यांकन का पुनर्पाठ

डॉ.करुणाशंकर उपाध्याय

वरिष्ठ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिंदी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय
मुंबई-४०००९८

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी ही नहीं संपूर्ण भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठतम आलोचक माने जाते हैं। वे विश्व के तीन श्रेष्ठतम आलोचकों में से एक हैं। मेरा मानना है कि अरस्तू, मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य रामचंद्र शुक्ल विश्व के तीन सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं जिन्होंने काव्यालोचन के क्षेत्र में युगांतरकारी कार्य किया है।हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी का अवतरण एक युगांतरकारी घटना है। एक ऐसा प्रस्थान प्रवर्तक व्यक्तित्व जो अतीत से लेकर वर्तमान तक को नूतन बना दे और भविष्य के लिए विवेकपूर्ण संकेत कर जाए, वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ऐसे ही आचार्य हैं। आप हिंदी जगत की साहित्यिक अभिरुचि को ऊपर उठाने के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान की दूसरी विद्याशाखाओं को आलोचना के अंतरपाठ के साथ अनुस्यूत करते हैं। उनका आलोचकीय व्यक्तित्व इतना विराट और गंभीर रहा है कि कोई दूसरा आलोचक उनके समकक्ष प्रतीत नहीं होता। उनका आलोचनात्मक लेखन गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से अतिशय उत्कृष्ट तथा उपयोगी है। उनके आलोचकीय व्यक्तित्व की गुरुता आज तक महसूस की जा सकती है। फलतः बाद के आलोचकों ने अपनी बहुत सारी शक्ति उनकी स्थापनाओं से टकराने में जाया की है। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी के पहले महत्वपूर्ण आलोचक हैं जो शुक्लजी की मान्यताओं से सर्वप्रथम टकराते हैं। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में इनका आगमन भी आचार्य शुक्ल के तुरंत बाद होता है। जिस तरह आचार्य शुक्ल संस्कृत और अंग्रेजी से हिंदी में आए थे उसी तरह हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत और अपभ्रंश से हिंदी में आते हैं। लेकिन आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक मान्यताएं उस समय के किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेरित और प्रभावित नहीं थी जबकि द्विवेदीजी की आत्मा पर रवीन्द्रनाथ टैगोर कुंडली मारकर बैठे थे। द्विवेदीजी के लिए उनका अतिक्रमण लगभग असंभव था। इन्होंने एक स्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टि तथा विश्व मानवतावाद का प्रतिमान लेकर हिंदी आलोचना के भव्य प्रासाद में प्रवेश किया। चूंकि आचार्य शुक्ल की आदिकाल, कबीर और छायावाद संबंधी मान्यताएं अपनी दृष्टिगत मर्यादा और उपलब्ध सामग्री की सीमा के कारण विवाद का विषय रही हैं फलतः हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं विषयों को अपने विवेचन का आधार बनाया। आपने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' लिखकर आचार्य शुक्ल की कतिपय मान्यताओं को चुनौती देने का कार्य किया। इनका मानना था कि भक्ति काव्य भारतीय चिंता धारा का स्वाभाविक विकास है उसे इस्लाम की प्रतिक्रिया मानना सही नहीं होगा। उन्होंने स्वयं लिखा है 'मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूं कि यदि इस देश में इस्लाम न भी आया होता तो भी

भक्ति काव्य का बारह आना वैसे ही होता जैसा कि आज है'[1] यहां विचारणीय है कि द्विवेदी जी ने आचार्य शुक्ल की जिन मान्यताओं का खंडन करना चाहा वहां उनके आधे-अधूरे कथन को उद्धृत किया अथवा उतने ही पक्ष को उद्धृत किया जो उनके विवेचन में सहायता करते हों। इसे उनका व्यावहारिक चातुर्य माना जाएगा क्योंकि एकबारगी पाठक उसके प्रवाह में बह ही जाता है। इस कार्य में उनकी व्यास शैली भी सहकारी भूमिका में है।

आचार्य शुक्ल ने भी भक्ति के उद्भव पर सूरदास अथवा भ्रमरगीतसार की भूमिका नामक पुस्तक में सविस्तार लिखा है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि भक्ति के उद्भव का संबंध किस तरह श्रीमद्भागवत पुराण, नारद भक्ति सूत्र और आलवार भक्तों से जुड़ जाता है। उनकी भेदक इतिहास दृष्टि एवं गंभीर लेखनी का संस्पर्श पाकर भक्ति की समूची परंपरा उद्भासित हो उठी है। हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य शुक्ल के जिन वक्तव्यों को द्विवेदी जी ने विवादास्पद बनाने का प्रयास किया वह इस प्रकार हैं :-

१. 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे देव मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वह कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत ना तो वे गा ही सकते थे ना बिना लज्जित हुए सुन सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतनी भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था'?[2]

आचार्य द्विवेदी ने यह बताने की कोशिश की है कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही देश में अनेक जातियां आ रही थीं और इस देश की संस्कृति का अभिन्न अंग बन गई थीं। उन्होंने सूर साहित्य में शुक्ल जी के उपर्युक्त उद्धरण पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'मुसलमानों के आगमन के पहले भी सैकड़ों जातियां इस देश में आकर हिंदू धर्म का कवच पहन चुकी थीं। नई-नई जातियों के आने से नई नई समस्याएं खड़ी हो गई और हिंदू शास्त्रकारों ने नई-नई स्मृति और नए-नए रूप में पुराण रचकर इन समस्याओं को हल करने की चेष्टा की थी। उस समय तक हिंदू जाति के अंदर अदम्य जीवनी-शक्ति और संपूर्ण सत्य की अवधारणा वर्तमान थी। इस जीवनी-शक्ति के कारण ही वह नई व्यवस्था बना सकी थी परंतु मुसलमानों के आने से वह शक्ति स्तंभित सी हो गई। अब तक जो जातियां आई थी उनकी अपनी कोई जबरदस्त संस्कृति न थी पर मुसलमानों की संस्कृति केवल सशक्त और संयत ही नहीं थी उसमें भारतीय संस्कृति के विरोधी उपादान भी थे, यह बड़ी विकट समस्या थी।'[3] क्या हिंदू जाति के भीतर की अदम्य जीवनीशक्ति के स्तंभित अर्थात जड़वत होने तथा अपने पौरुष से हताश जाति जैसे पदबंध में अर्थ के धरातल पर कोई भेद हो सकता है। यदि नहीं तो इसका आशय यह है कि द्विवेदीजी शुक्लजी की ही बात को उनका प्रतिवाद करते हुए कह रहे हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी यह बताने की कोशिश करते हैं कि भारतीय जन समुदाय जो कुछ सोच रहा था हिंदी साहित्य उसे जानने का सबसे बड़ा साधन था। वह भारतीय जनमानस की स्वाभाविक चिंताधारा थी। जबकि आचार्य शुक्ल इसके पहले ही जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिंब को ही साहित्य बतला चुके थे। इसी तरह द्विवेदीजी यह भी कहते हैं कि हिंदी साहित्य हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति नहीं है जबकि आचार्य शुक्ल ने ऐसा कहीं नहीं कहा है। ठीक इसी तरह द्विवेदी जी भक्ति काव्य में चार आना अर्थात पचीस प्रतिशत मुसलमानी प्रभाव स्वीकार भी करते हैं। कहने का आशय यह कि वे आचार्य शुक्ल की किसी भी मान्यता को तर्क अथवा प्रमाण के आधार पर ध्वस्त नहीं कर पाते यह दूसरी बात है कि इससे हिंदी आलोचना में एक नई बहस आरंभ होती है। आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल के ३ बड़े कवियों जायसी, सूर और तुलसी पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी थी और उनकी कविता

के मर्मस्थल की मार्मिक पहचान की थी। उन्होंने उक्त कवियों की कविताओं के भावपक्ष और कलापक्ष का जो सूक्ष्म तथा संतुलित विवेचन किया है वैसा पाठ विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। वह किसी कारणवश कबीर पर पूरी पुस्तक नहीं लिख पाये और इसी कमी को पूरा करने के लिए द्विवेदी जी आगे आते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आचार्य शुक्ल ने जितना भी कबीर पर लिखा है वह व्यावहारिक आलोचना का अद्भुत नमूना है। उन्होंने कबीर के रचनात्मक व्यक्तित्व की जो छवि निर्मित की है वह अपनी वस्तुनिष्ठता के कारण ख़ारिज नहीं हो सकी। यही कारण है कि आज आचार्य शुक्ल के कबीर संबंधी मूल्यांकन का पुनर्पाठ तैयार करने की महती आवश्यकता है। आचार्य शुक्ल ने कबीर के संदर्भ में जो स्थापनाएं दी उनमें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैंः-

१) 'जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठ योगियों की साधना का समर्थन किया।

२) कबीर ने ज्ञान मार्ग की जहां तक बातें की हैं वह सब हिंदू शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने रामानंद जी के उपदेशों से किया।

३) ज्ञान मार्ग की बातें कबीर ने हिंदू साधू-सन्यासियों से ग्रहण की जिसमें सूफियों के सत्संग से उसमें प्रेम तत्व का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ बनाया।

४) उपासना के बाह्य-स्वरूप पर आग्रह करने वाले कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी खरी सुनाई और राम-रहीम की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेम में करने का उपदेश दिया।

५) यद्यपि वे पढ़े-लिखे ना थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुंह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं।

६) कबीर अपने श्रोताओं पर अच्छी तरह भाषित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है इसी से वह प्रभाव डालने के लिए बड़ी लंबी चौड़ी गर्वोक्तियां भी कभी-कभी कहते थे।

७) कबीर के बीजक में वेदांत तत्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेम साधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्ति पूजा तीर्थाटन आदि की असारता और नमाज, व्रत, आराधना की निंदा इत्यादि प्रसंग हैं। सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यतः साखी के भीतर हैं जो दोनों में हैं। इसकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात राजस्थानी पंजाबी मिली खड़ी बोली। पर रमणीय शब्द में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं कहीं पर भी बोली का व्यवहार है।

८) भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित ना होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार हैं प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी इसमें संदेह नहीं।'[४]

९) इसमें कोई संदेह नहीं है कि कबीर ने नैतिक मोर्चे पर जनता के बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियो के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत बड़ा कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्य की एक सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊंचे से ऊंचे स्थान की ओर बढने के लिए बढ़ावा दिया।[५]

आखिर कबीर के अवदान का इतना बहुमुखी और वैज्ञानिक विश्लेषण और किसने किया है? शुक्लजी कबीर की प्रतिभा की प्रखरता का दो बार उल्लेख करते हैं। क्या हम शुक्लजी जैसे आलोचक से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के बजाय किसी कवि का करतार लेकर यशगान करे? आचार्य शुक्ल ने अवसर मिलने पर अपने विश्वविख्यात निबंध 'काव्य में रहस्यवाद' में भी कबीर पर विशेष रूप से लेखनी चलाई है। वे लिखते हैं कि-

१०-' ब्रह्म, माया, पंचेन्द्रिय, जीवात्मा, विकार, परलोक आदि को लेकर कबीरदास ने अनेक मूर्तस्वरूप खड़े किए हैं। इन मूर्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूपयोजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि

वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूपयोजना जो किसी सर्वस्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भावक्षेत्र में लाने के लिए की गई है, कहीं अधिक मर्मस्पर्शी है। उदाहरण के लिए मायावाद-समन्वित अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण के लिए कबीर की यह उक्ति लीजिए------

'जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहिर भीतरि पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहि समाना, यह तत कथो गियानी।।'

यह वेदांत ग्रंथों में लिखा हुआ दृष्टांत कथन मात्र है। अच्छा, इसी ढंग की एक दूसरी कुछ और विस्तृत रूपयोजना देखिये----

'मन न डिगै ताथै तन न डराई।
अति अथाह जल गहिर गंभीर,
बांधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर।
जल की तरंग उठी, कटी है जंजीर,
हरि सुमिरत तट बैठे हैं कबीर।।'

इसमें ज्ञानोदय द्वारा अज्ञान का बंधन कटने और भव सागर के पार लगने का संकेत है। यह बंधन हरि की कृपा से कटा है, इससे कबीरदास अब उनका स्मरण करते और गुण गाते हैं। यह एक निरूपित सिद्धांत का वास्तव में घटित तथ्य के रूप में चित्रण मात्र है। ज्ञान से मुक्ति होती है और ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह से होता है। यह एक वाद या सिद्धांत है। कबीरदास जी इस बात इस रूप में सामने पेश करते हैं मानों यह सचमुच हुई है-- वे भव सागर के पार हो गए हैं और फूले नहीं समा रहे हैं। हम जानते हैं कि इसकी व्याख्या के लिए ऐसे बंधे और मंजे हुए वाक्य मौजूद हैं कि यह तो साधक की उस दिव्य अनुभूति की दशा है जिसमें वह अपने को इस भौतिक कारागार से मुक्त और बाह्य की ओर अग्रसर देखता है।' पर यदि कोई कहे कि यह सब कुछ नहीं, यह एक सांप्रदायिक सिद्धांत का काव्य के ढंग पर स्वीकार मात्र है, तो हम उसका मुंह नहीं थाम सकते।'[६]

इस तरह आचार्य शुक्ल यह प्रतिपादित करते हैं कि कबीर की काव्य पंक्तियाँ दार्शनिक धारणाओं, सूत्रों, अनुभवों को परंपरा में केवल दुहराती हैं। इसमें बहुत कुछ मार्मिक कविता भी विचारों की एकरसता से दब-सी गयी है। शुक्ल जी इसके बरक्स लोकजीवन से अनुप्राणित पंक्तियों पर भी टिप्पणी करते हैं जिनमें अपेक्षित काव्य-सौष्ठव है। वे अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि ---'अब देखिए कि उक्त पंक्तियों की अपेक्षा कबीरदास जी नीचे दी हुई उक्तियाँ, जो लोकमत या अनुभव सिद्ध तथ्यों को सामने रखतीं हैं, कितनी मर्मस्पर्शिणी हैं। देहावसान सबसे अधिक निश्चित एक भीषण तथ्य है। उसके निकट होने की कैसी मूर्तिमान चेतावनी इस साखी में है--

'बाढ़ी आवत देखि करि तरिवर डोलन लाग।
हमें कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग।।'

हवा में हिलता हुआ पेड़ मानों बढ़ई को आता देख कांपता है---- बुढ़ापे से हिलता शरीर मानों काल को पास पहुँचता देख थर्राता है। शरीर कहता है कि हमारे नष्ट होने की परवाह नहीं, हे आत्मा! तू अपनी तैयारी कर।!

'मेरो हार हिरानो मैं लजाउं।
हार गुह्यो मेरो राम ताग, बिचि बिचि मानकि एक लाग।
पंच सखी मिली हैं सुजान, चलहु त जइए त्रिवेनी न्हान।
न्हाइ धोइ के तिलक दीन्ह, ना जानूं हार किनहि लीन्ह।
हार हिरानो, जन बिलम कीन्ह, मेरो हार परोसिनी आहि लीन्ह।'

यह उस मन के खो जाने का पछतावा है जो ईश्वर का स्मरण किया करता था।जीवात्मा कहता है कि 'मुझे पंचेन्द्रियाँ बहकाकर त्रिगुणात्मक प्रवाह में अवगाहन कराने ले गयी जहां मन फंस गया। उसी मन के प्रेम को लेकर मुझे उस प्रिय के पास जाने का अधिकार था। अब उसके बिना जाते नहीं बनता। इंद्रियों ने बेतरह ठगा। इस पद में ईश्वर और परलोक मानने वाले मनुष्य मात्र की सामान्य भावना का अनुसरण करके बड़ा ही मूर्त विधान है। कुछ खटकने वाला शब्द त्रिवेणी (त्रिगुणात्मक प्रवाह) है क्योंकि प्रकृति के तीन गुण एक दर्शन विशेष के भीतर की निरूपित संख्या है। पर इस शब्द से अध्यवसान में बड़ा सुन्दर समन्वय हो गया है।

अन्योक्ति पद्धति का अवलंबन कबीरदास जी ने कम ही किया है।अधिकतर स्थानों में उन्होंने विकारों, भूतों, इंद्रियों, चक्रों, नाड़ियों इत्यादि की शास्त्रों में बंधी हुई केवल संख्याओं का उल्लेख साध्यवसान रूपकों में

करके पहेली बुझाने का काम किया है। उनकी जो अन्योक्तियां या अध्यवसान प्रहेलिका के रूप में नहीं है और वादमुक्त है वे शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकती है। वाद या सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का नहीं मानते, मतवादी का काम मानते हैं। मनुष्य का हृदय अत्यंत पवित्र वस्तु है। उसे प्रकृत मार्ग से यों ही इधर-उधर भटकाने की चेष्टा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो, उचित नहीं।'[७]

यहाँ इतने बड़े उद्धरण को प्रस्तुत करने का मूल कारण यह है कि आचार्य शुक्ल ने जिस वैज्ञानिक चेतना और वस्तुनिष्ठता के साथ कबीर की सृजनात्मकता तथा रचनात्मक दृष्टि का विश्लेषण किया है वैसा दूसरा और कौन आलोचक कर पाया है? उन्होंने कवि के व्यक्तित्व, विचार, दर्शन, रहस्य-चेतना, संवेदना एवं कलात्मक संदर्भों के विश्लेषण में जिस तटस्थता और सहृदयता का परिचय दिया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर के काव्य के अभावात्मक पक्षों का निर्वचन करते हुए उसमें निहित काव्यात्मक शक्तियों का जिस खुले मन से शुक्लजी ने प्रशंसा की है वह हिंदी आलोचना की विशिष्ट उपलब्धि है।

इसके ठीक विपरीत जब द्विवेदीजी कबीर पर विचार करते हैं तो उन्हें आचार्य शुक्ल की उक्त स्थापनाएं बेहद नागवार लगती हैं। फलतः वे उक्त विषय पर अपना भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। द्विवेदीजी ने कबीर को योगी के बजाय भक्त माना जिसे आचार्य शुक्ल पहले ही कह चुके थे।

आचार्य शुक्ल की कबीर संबंधी मान्यताओं पर घोर असहमति व्यक्त करते हुए द्विवेदी जी ने निम्नलिखित बातें कही हैं :-

१- 'कबीर योगियों के द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं पर वह स्वयं वही नहीं जो योगी हैं। हम यहां फिर एक बार कहते हैं कि कबीर दास यौगिक क्रियाओं को भी बाह्याचार्य ही मानते थे।'[६]

२- 'उनका केंद्रीय विचार भक्ति था। वे भक्ति को प्रधान मानते थे। उसके रहने पर बाह्याचार का होना ना होना गौण बात है।'[८]

३- 'जिस दिन से महा गुरु रामानंद ने कबीर को भक्ति रूपी रसायन दी उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली। आंख मूंदने और कान सूंघ के टंटे को नमस्कार कर लिया मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी।'[९]

४- 'कबीर ने ही इस इतने बड़े विश्व व्यापार को निरर्थक नहीं समझा। उन्होंने उसे इस असीम प्रियतम की लीला का उन्मेषयिता माना है।'[१०]

५- 'कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बात नहीं कही थी। उनकी छंदोंयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार विधान पूर्ण रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित है।'[११]

६- 'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रुप में भाषा से कहलवा लिया है--- बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।'[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी शुक्ल जी से एकदम अलग हटकर कबीर के संबंध में बातें कहने का प्रयास करते हैं लेकिन उनकी स्थापना शुक्ल जी की स्थापना को निरस्त नहीं कर पाती। द्विवेदी जी भले ही कबीर को वाणी का डिक्टेटर कहते हैं। लेकिन हिंदी का सामान्य पाठक आज भी आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित सधुक्कड़ी अर्थात राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली को ही उनकी भाषा मानता है। साथ ही रमैनी और सबद के गीतों में ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का व्यवहार परिलक्षित होता है। द्विवेदी जी की बात उसके गले नहीं उतरती। उसमें केवल भावोद्गार है कोई तटस्थ आलोचकीय विश्लेषण नहीं। डॉ.नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' लिखकर द्विवेदीजी को आचार्य रामचंद्र शुक्ल से अलग बताने का प्रयास किया है परन्तु वस्तुस्थिति इससे कोसों दूर है। द्विवेदीजी तथा बाद के अन्य आलोचकों ने शुक्लजी के कबीर पर लिखे गए समस्त लेखन को पढ़े बगैर अपने काम की कुछ

पंक्तियों को उद्धृत करके आचार्य शुक्ल को कबीर विरोधी सिद्ध करने का प्रयास किया है जो तथ्यात्मक दृष्टि से ग़लत है। ऐसी स्थिति में शुक्लजी के कबीर संबंधी मूल्यांकन का नया पाठ तैयार करना वैज्ञानिकता का तकाजा है। इसे हम हिंदी आलोचना के अविवेक को दर्शाने वाला एक ज्वलंत पृष्ठ कहेंगे कि जिस आचार्य शुक्ल ने कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की संपूर्ण शक्ति, प्रतिभा, रचनात्मक संदर्भों और अभावात्मक आयामों को पूरी निःसंगता एवं तटस्थता के साथ विश्लेषित किया उसे ही कबीर के विरोधी के रूप में प्रचारित किया गया। आचार्य शुक्ल ने कबीर की रचनाओं के आभ्यंतर से लेकर उसके भाषिक और शिल्प-सौष्ठव तक के विवेचन में जिस आलोचनात्मक विवेक का मानक उपस्थित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। शुक्लजी ने कबीर की प्रखर प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए उनके काव्य के मार्मिक स्थलों की पहचान और तलस्पर्शिनी व्याख्या जिस स्तर पर की है उसकी तुलना में कबीर के तथाकथित शुभचिंतक आलोचक कहीं नहीं ठहरते। आचार्य शुक्ल ने कबीर द्वारा सामाजिक विसंगतियों, सांप्रदायिक भेदभाव, बाह्याडंबर, पाखंड, हिंसा आदि पर किए गए काव्यात्मक प्रहार को भी रेखांकित किया है। उन्होंने कबीर की लोकधर्मिता को सराहा भी है। ऐसे दृष्टि-सजग, न्यायप्रिय आलोचक को कबीर के विरोधी के रूप में प्रचारित करने का जो अपकर्म हिंदी आलोचना ने किया है वह बेहद चिंतनीय है। इस भ्रम का निराकरण करने तथा शुक्लजी के अवदान को सही संदर्भ में समझाने की कोशिश हमने की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे इस प्रयास से शुक्लजी के कबीर संबंधी मूल्यांकन पर खुला विमर्श आरंभ होगा। यह कबीर के मूल्यांकन के वैज्ञानिक प्रयास को बढ़ावा देगा।

संदर्भ सूची

१- हिंदी साहित्य का इतिहास-- आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृष्ठ -२

२- वही पृष्ठ ६०.

३- सूर-साहित्य - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ --४४--४५

४- हिंदी साहित्य का इतिहास --आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृष्ठ --६८।

५- वही। पृष्ठ ५६.

६- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के श्रेष्ठ निबंध। - संपा.सत्यप्रकाश मिश्र पृष्ठ -१४४-१४५।

७- वही पृष्ठ -१४५-१४६।

८- कबीर--- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ --९३

९- वही पृष्ठ १३५.

१०- वही पृष्ठ --१५१

११- वही पृष्ठ----२१३।

१२- वही पृष्ठ --२१७

१३- वही।

राष्ट्र निर्माण में भारतीय भाषाओं की भूमिका

प्रो.डॉ.राम आह्लाद चौधरी

प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कोलकाता

मानव सभ्यता और संस्कृति ने बार-बार प्रमाणित किया है कि अग्रगति के इतिहास में भाषा प्रमुख है। भाषा दो संस्कृतियों को निकट लाने का प्रयास करती है। भाषा दुख-दर्द को समझने का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम है। किसी समाज में भाषा इसलिए अपनी महत्ता स्थापित करती है कि अभिव्यक्ति इसके कारण ही संभव है।

मनुष्य निर्माण करता है; जो सुंदर है उसे और सुंदर बनाता है। सुडौल-सुंदर-स्वस्थ बनाने की क्षमता सिर्फ मनुष्य में होती है, क्योंकि मनुष्य हर क्षण मनुष्यत्व की रक्षा करता है। मनुष्यत्व को बनाने में और उसे बढ़ाने में भाषा की अहम् भूमिका सदा से विद्यमान रही है, जिसके सम्बन्धों में विद्वानों ने बार-बार ध्यान अपनी ओर खींचा है।

और जब निर्माण की चर्चा होती है, तब भाषा सामने आती है। निर्माण चाहे कुछ भी हो भाषा का प्रयोजन अत्यंत जरूरी हो जाता है। सिर्फ निर्माण में ही नहीं बल्कि सृजन और आविष्कार में भी भाषा की आवश्यकता पड़ती है। यह कहना उचित है कि भाषा के बिना सृजन-निर्माण-आविष्कार नहीं हो सकते; इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि ज्ञात इतिहास में सिर्फ भाषा ही एक ऐसी है, जिसके पास वर्गीय चरित्र नहीं होता है, क्योंकि भाषा बनने में युग-युग लगते हैं हजारों-हजार वर्षों के संघर्ष के बाद जाकर कहीं एक भाषा का निर्माण होता है। भाषा के निर्माण में हजारों साल के श्रम का कमाल देखा जा सकता है, तब जाकर कोई समाज किसी भाषा को ग्रहण करने में सक्षम होता है।

यही वह बिंदु है, जब कोई कह सकता है कि भाषा के बिना समाज नहीं चल सकता है। यदि समाज पर गहराई से विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि समाज का असल रूप राष्ट्र में ही झलकता है। विभिन्न समाज के संघर्षों और बलिदानों के चलते ही कोई एक खास राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्र प्रेम के बिना शायद ही कोई समाज आगे बढ़ता है।

समाज की उत्पादनशीलता और उसकी गति को मानवोत्तान के कार्य में कोई राष्ट्र ही लगा सकता है। यह सच है कि उस राष्ट्र की अपनी भाषा होती है। वह भाषा उस राष्ट्र के विभिन्न समाज को आपस में न केवल जोड़ने का प्रयास करती है बल्कि विभिन्न तरह की समस्याओं का समाधान भी खोजने का काम करती है।

भाषा एक तरह से राष्ट्र की प्राण वायु है।भाषा का सीधा सम्बन्ध हृदय से होता है। भाषा एक तरह से समाज में सेतु बनाती है। भाषा न केवल राष्ट्र की अभिव्यक्ति का माध्यम है बल्कि भाषा यह भी दिखाती है कि एक राष्ट्र के बनने में समाज ने किस तरह अपनी भूमिका अदा की है। विभिन्न भाषाओं के जरिये एकता के सूत्र को मजबूत करना संभव होता है।

इसी एकता और अखंडता के बल पर राष्ट्र अपनी अगली यात्रा करता है। राष्ट्र का आधार जीवन है, जो जीवन एक हद तक भाषा की अभिव्यक्ति है। सिर्फ राष्ट्र ही नहीं बल्कि व्यक्तित्व के विकास में भी भाषा की सर्वोपरि भूमिका है।

हिंदी भाषा इक्कीसवीं सदी में नये रूप ओर नये रंग के साथ विश्व मंच पर उपस्थित होने के उद्देश्य से विभिन्न तरह की समस्याओं का मुकाबला करते हुए उन तमाम संभावनाओं को हकीकत में बदलने के लिए संकल्पबद्ध है, जिन संभावनाओं की तलाश हिंदी भाषा ने अपने संघर्ष-पथ पर हजारों साल पहले शुरू की थी। भाषा समाज की होती है, उसके बनने में युगों-युग लगते हैं। हिंदी भाषा के बनने में भी युगों-युग लगे हैं। हर युग का अपना तकाजा होता है, उस तकाजे के अनुसार भाषा को ढलना पड़ता है; जैसा कि विद्वानों ने कहा है कि भाषा सबकी होती है। भाषा समाज के हर हिस्से की प्रगति में सहायक होती है। भाषा कहीं अवरुद्ध नहीं होती और न भाषा किसी को अवरुद्ध करने का प्रयास करती है। यही कारण है कि हिंदी भाषा की प्रगति-धारा लगातार इस दुनिया के मानव जीवन को अपनी ओर आकर्षित करती है। सच्चाई यही है कि हिंदी भाषा को तकनीकी और प्रौद्योगिकी-संस्कृति के तहत अपने विकसित होने की संभावनाओं की तलाश करनी पड़ती है। इस कर्म में पूरी ईमानदारी से हिंदी भाषा के रचनाकार प्रयासरत हैं।

वर्तमान युग निश्चित रूप से डिजिटल युग है। इस युग की प्रौद्योगिकी प्रगति ने हिंदी भाषा सहित अन्य भाषाओं के संघर्ष-पथ को उन्मुक्त किया है। इस संघर्ष-पथ पर विभिन्न तरह की समस्याएं हैं; उन समस्याओं का निदान करना या उन समस्याओं को संभावनाओं में परिवर्तित करना भाषा के विद्वानों का हुनर है; इस आधार पर यह कहना उचित है कि हिंदी भाषा सारी संभावनाओं को हकीकत में बदलने के लिए लगातार काम करती है।

डिजिटल युगीन भाषा और साहित्य की बुद्धिमत्ता धीरे-धीरे विश्व-फलक पर अपनी अमिट छाप छोड़ रही है। इस युग ने भाषा और साहित्य को ताकतवर बनाया है, पर इन दोनों को विवाद के घेरों में खड़ा कर दिया है। दरअसल भाषा यथार्थ का प्रतिबिम्ब है, जिसकी पड़ताल साहित्य में ही संभव है। उल्लेखनीय है कि भाषा विचार विनिमय का साधन है। भाषा से सामाजिक संपर्क मजबूत होता है। भाषा कभी भी तर्क की सरल-रेखा पर नहीं चलती हैं। बल्कि व्याकरण के सिद्धांतों की वक्र रेखा पर चलती है। और इसी रेखा पर चलते-चलते भाषा अपने लिए व्याकरण का निर्माण भी करती है; ताकि दूसरे व्यक्ति भी भाषा में व्यक्त भाव को समझ सके। भाषा दरअसल भाव को लेकर आती है तथा दूसरों के लिए एक नया भाव लोक रचने का काम करती है। कई विद्वानों ने कहा है कि राजा की भाषा जीविका की कुंजी है, जबकि सही मायने में भाषा जिंदगी की कुंजी है। दुनिया की हर भाषा को कोई न कोई थूनी चाहिए। इसके बिना भाषा का अस्तित्व नहीं दिखता है। जनता की मांग को स्थापित करने में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा ही एक ऐसा साधन है, जो जनता को लामबंद करती है। जनता की लामबंदी को ध्यान में रखकर भाषा की समद्धि की जाती है। भाषा की श्रीवृद्धि तभी संभव है, जब उसमें रचना आये। नयी-नयी रचनाएं भाषा की संभावनाओं को रेखांकित करते हुए नये-नये प्रयोग की वकालत करती हैं तथा यह सिद्ध करने की कोशिश करती हैं कि भाषा की जीवंतता बची हुई है।

भाषा की खासियत भी अपने ढंग की होती है; सच है कि वही भाषा आगे बढ़ती है, जिस भाषा की पाचन शक्ति मजबूत होती है। भाषा की पाचन शक्ति का करामात उसके द्वारा शब्दों को ग्रहण करने पर निर्भर करता है। जो भाषा जिस पैमाने पर अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करती है तथा अपने यहां आत्मसात कर लेती है; वह भाषा अधिक जीवंत दिखायी देती है। रचनाकार अपनी विचारधारा के आधार पर भाषा की श्रीवृद्धि करते हैं। किसी भाषा की समृद्धता इस पर निर्भर करता है कि उसका प्रचार-प्रसार कितना हो पा रहा है। यह भी कहने की कोशिश की जाती है कि उस भाषा में दैनिक अखबार कितने प्रकाशित होते हैं तथा उस भाषा में प्रकाशित अखबारों की पाठक संख्या में वृद्धि होती है, तो यही समझा जाता है कि भाषा की विकासधारा की उन्मुखता बरकरार है। भाषा को अपनी

प्रांजलता जारी रखनी पड़ती है। प्रांजलता भाषा की सर्वोपरि महत्ता है। इस महत्व के बिना भाषा की काया सुरक्षित नहीं हो पाती है। उच्च मान की काया निर्मित करने की क्षमता जिस भाषा में होती है, उसकी गुण-ग्राह्यता भी उसी तरह उच्च मान की होती है।

भाषा का प्रवाह प्रयोजनीय है। इसके बिना भाषा का निखार नहीं हो पाता है। भाषा अपने निखार को आगे बढ़ाने के लिए प्रवाह पर विशेष ध्यान देती है। यही कारण है कि भाषा नियमों को मानकर चलती है। नियमों के बिना भाषा की गति रुक जाती है। गति रुकने से भाषा अपना अस्तित्व खो देती है। ऐसी स्थिति में भाषा अपनी लिपि को धीरे-धीरे खोने लगती है। यह सुनकर आश्चर्य होता है कि जब कोई भाषा अपनी लिपि छोड़ देती है, तब वह मृतप्रायः हो जाती है। भाषा को अपनी लिपि छोड़ने से कई तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है। यह बात जितनी सच है, ठीक उसी तरह से यह भी सच है कि जब भाषा अपनी लिपि को छोड़कर दूसरी लिपि अपनाती है, तब कुछ दिनों तक जिंदा रहती है और उसके बाद धीरे-धीरे मिट जाती है। भाषा का बनना-बिगड़ना लगा रहता है। इस संदर्भ में यह याद रखना जरूरी है कि यदि कुछ बनता है, तो वह मिटेगा। निर्माण के बाद विध्वंस होना; एक शाश्वत नियम है। इस नियम के बिना समाज आगे नहीं बढ़ पाता है। भाषा का निर्माण जिस तरह धीरे-धीरे होता है, ठीक उसका विध्वंस भी धीरे-धीरे होता है। और धीरे-धीरे मृत्यु ही तो आती है, चाहे जिस रूप में आये, हालांकि आंदोलन-संग्राम के जरिये कुछ दिनों के लिए भाषा अपनी काया बचाने में सक्षम होती है।

भाषा जब अपना विस्तार करती है, तब उसे एक आधार की जरूरत है। इस आधार के बिना भाषा का प्रचार-प्रसार असंभव है। याद रखने की आवश्यकता है कि भाषा का जनपदीय आधार जितना व्यापक होता है, उससे भाषा की जीवंतता उतनी व्यापक होती है। भाषा की जीवंतता का दीर्घस्थायी होना सबसे बड़ी बात है। लंबे समय तक भाषा सामाजिक संदर्भों को जिंदा करने में तभी सफल हो सकती है, जब भाषा उस समाज की सांस्कृतिक चाहत को पूरा कर सके। सांस्कृतिक पहलुओं पर विचार करने से भाषा अपनी यात्रा तय करती है। यह यात्रा वस्तुतः एक जटिल प्रक्रिया का आवलंबन है। इस आवलंबन के जरिये ही भाषा उन्नत होती है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि उन्नत भाषा जब उन्नतर बनने की दिशा की ओर उन्मुख होती है, तब वह उन्नत भी नहीं रह पाती है। भाषा की आभ्यांतर बनावट पर यह निर्भर करता है कि भाषा बाहरी शक्तियों से किस तरह जूझ रही है। यह देखा गया है कि शक्ति का संचय संघर्ष के दौरान ही होता है।

यह संघर्ष जिंदगी का संघर्ष है। किस तरह कोई भाषा जिंदगी की चाहत-अनचाहत को आत्मसात करती है, इस पर यह निर्भर करता है कि भाषा की जुड़ाव-शक्ति कितनी है। भाषा किस तरह जुड़ती है। जुड़ने की क्षमता है या नहीं। भाषा की क्षमता तभी दिखती है, जब वह किसी दूसरी भाषा से जुड़ने का काम करती है। जुड़ने का अर्थ यह है कि किसी अन्य भाषाओं की खासियत को वह किस आधार पर ग्रहण करती है तथा अपने गुणों से किसी अन्य भाषाओं को कितना प्रभावित करती है। भाषिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया संबंधों को मजबूत करती है। यही कारण है कि भाषा अपनी महत्ता समाज में स्थापित करती है। इस महत्ता को रेखांकित करने के लिए भाषा को आजाद भी रहना चाहिए। यदि नियमों की जकड़न से भाषा फंस जाती है, तो भाषा लचर बन जाती है। भाषा को लचीली बनाने के नाम पर उसे लचर बना दिया जाता है और जैसे ही भाषा लचर बनती है, वैसे ही भाषा संघर्ष से कट जाती है। संघर्ष से विमुख होते ही भाषा कई तरह की विकृतियों का शिकार हो जाती है। विकृतियों से बचाने के लिए भाषा को स्वंतत्र रखने पर ध्यान देना आवश्यक है।

भाषा को आजाद रखने का यह मतलब नहीं है कि भाषा अराजक हो गयी है। अर्थहीन आजादी से अराजकता पैदा होती है, यह पिछड़ी मानसिकता का द्योतक है। आजादी का मतलब यह है कि भाषा अपने नियमों से ऊपर उठ गयी है या नियमों को तोड़ना आजादी नहीं है। भाषा की आजादी का मतलब यह है कि खास परिस्थितियों में भाषा ग्रहणशीलता को बरकरार रखे तथा भाषा भीतर ही भीतर ऊर्जस्वित होती रहे। भाषा की ऊर्जा इस ग्रहणशीलता पर आवलंबित होती

है। यही कारण है कि भाषा अपनी प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार अन्य भाषाओं के शब्दों को अपनी शर्त के आधार पर ग्रहण करती है तथा उन शब्दों के सही-सही प्रयुक्त होने की प्रक्रिया से समाज को अवगत कराती है। यह एक कठिन कार्य है। भाषा इस कठिन कार्य को अंजाम अपनी शर्त के आधार पर देती है। सामाजिक-सांस्कृतिक केंद्रों के जिन मिलन-बिंदु पर दो भाषाओं या दो से अधिक भाषाओं के बीच शब्दों का आदान-प्रदान होता है, वह ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण है। किसी विशेष काल में ही दो भाषाओं के बीच शब्दों का आदान-प्रदान होता है। इस काल विशेष को ध्यान में रखकर जिस तरह समाज के इतिहास को पढ़ना आवश्यक हो जाता है, ठीक उसी तरह भाषा के अध्ययन-मनन की प्रयोजनीयता बढ़ जाती है। इस प्रयोजनीयता को ध्यान में रखते हुए कुछ भाषाविदों ने यह भी बतलाने का प्रयास किया है कि परिवर्तनशीलता भाषा का सबसे बड़ा गुण है। इस परिवर्तन के कई कारण हैं। यह सच है कि किसी एक कारण के चलते भाषा बदलती है। यह भी एक सवाल है कि भाषा के बदलाव का क्या कारण है और उसका क्या मतलब है? सहज रूप से यह कहा जाता है कि भाषा जब अपने मतलब को सामने रखती है, तब उसकी ओजस्विता समझ में आती है। लेकिन कभी-कभी यह दिखता है कि भाषा अपने सफर के दौरान कई चीजों को जन्म देती है, जो समाज के लिए उपयोगी साबित होती है। भाषा के कई अवयव हैं। भाषा के अध्ययन-मनन करने की दृष्टियां हैं। वर्तमान भाषा को परखने के लिए विभिन्न तरह के शोध हो रहे हैं। उन शोध कार्यों के जरिये भी भाषा के विस्तार को समझने में सुविधा हुई है।

भाषा दरअसल प्रयोग पर निर्भर करती है। एक रचनाशीलता को अंतिम अंजाम देने के लिए इस प्रयोग की जरूरत पड़ती है। प्रयोग ही भाषा की गुणवत्ता को स्थापित करता है। प्रयोग करने का सवाल जब-जब उठता है; तब-तब यही कहा जाता है कि प्रयोग सफल भी हो सकता है और प्रयोग असफल भी। प्रयोग की सफलता-असफलता पर क्या निर्भर करता है, यह कहना अनुचित होगा यदि प्रयोग सफल हो जाता है, तो एक रास्ता मिल जाता है और जब वह असफल हो जाता है, तब एक रास्ता अवरुद्ध हो जाता है। रास्ता के अवरुद्ध होने से संकट पैदा होता है; अक्सर यह मान लिया जाता है; लेकिन यह सच नहीं है, जब रास्ता अवरुद्ध होता है, तब कोई किसी दूसरे रास्ते की तलाश में निकलने का प्रयास करता है। जिन विद्वानों ने भाषा के संघर्ष को विकसित करने का विशेष ध्यान दिया है; उनका यह भी मानना है कि असफल प्रयोग के जरिये कई तरह की खिड़कियां खुलती हैं; आखिर प्रयोग असफल क्यों हुआ? इस असफलता का सामाजिक-सांस्कृतिक कारण क्या है? इससे सीखने का मौका मिलता है। यह सही कहा है कि अनुपलब्धियों के इतिहास से जितना सीखा जाता है। उपलब्धियों के इतिहास से नहीं सीखा जाता है। उपलब्धियों को व्यर्थ बनाना मुश्किल है, जबकि अनुपलब्धियां व्यर्थ नहीं होती हैं। व्यर्थता का इतिहास एक तरह से समाज और संस्कृति को दिशा देती है। यह दिशा दरअसल एक गति है। इस गति के बिना जीवन अधूरा है।

भाषा की जिंदगी को इसी तरह के प्रयोग से गति मिलती है और जब प्रयोग स्थावर बन जाता है, तब भाषा की गति भी रुक जाती है। सही मायनों में भाषा की विविधता उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। इसी कारणवश भाषा का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में होता है। भाषिक प्रयोग के क्षेत्र व्यापक हैं। उन क्षेत्रों की व्यापकता का आधार यह बतलाता है कि किसी तरह एक को स्थापित होने के लिए लड़ना पड़ता है। यही लड़ाई भाषा को एक नया मुकाम देती है। दरअसल इसी संघर्ष के दौरान भाषा अपना मिजाज निर्धारित करती है। इसी मिजाज से उस भाषा की बनावट और बुनावट का पता चलता है। यही सच भाषा के तनाव को रेखांकित करता है। यही कारण है कि भाषा उन तमाम उपादानों को संग्रह करती है, जिन उपादानों के आधार पर भाषा की संरचना एक हद तक भाषा के प्रयोग के जरिये होती है। वर्तमान में इसी पर कुठाराघात हो रहा है।

जब समाज-संस्कृति को तोड़ने का काम तेजी से होगा, तब भाषा भी बिखरने लगती है। भाषा की श्रीवृद्धि खत्म हो जाती है। स्वेच्छाचारी भाषा को श्रीहीन बनाने की साजिश करने लगता है। इस सिलसिले में वह सबसे पहले भाषा के प्रयोग को अवरुद्ध कर देता

है; जहां भाषा का प्रयोग अवरुद्ध दिखता है। तो यही समझना चाहिए कि भाषा की जनतांत्रिक बुनावट पर हमला शुरू हो गया है। यह हमला धीरे-धीरे समाज के जनतांत्रिक चरित्र को भी नुकसान पहुंचाने लगता है। जन विरोधी शक्तियों के चंगुल में फंसकर दरअसल भाषा लहूलुहान हो जाती है।

नव उदारीकरण ने भाषा विरोधियों का मन बढ़ा दिया है। यही कारण है कि वर्तमान में हमारी आपकी भाषाएं लहूलुहान दिखती हैं। नव उदारीकरण के प्रभाव से भाषा को मुक्त करने से भाषा की शान बरकरार रहेगी। इसे ध्यान में रखते हुए नव-उदारीकरण के उन सभी हमलों का पूरी हिम्मत से मुकाबला करना पड़ेगा, जिन हमलों के चलते भाषा लहूलुहान दिखती है। भाषा तभी जाकर वर्तमान को वाणी दे सकती तथा भविष्य को सुरक्षित करने का उद्घोष कर सकती। यह तभी संभव है, जब भाषा अपने संघर्ष-पथ पर अपने अतीत को पाथेय बनाकर आगे बढ़े।

दरअसल परिवर्तन शाश्वत सत्य है; इस बात पर विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। चाहे जिस शिविर के विद्वान हों, सभी विद्वानों ने परिवर्तन को स्वीकार करते हुए उसकी प्रक्रिया पर अपने-अपने दृष्टिबोध के जरिये विचार किया है, वह विचार कितना सही और सटीक है, इसका मूल्यांकन दर्शन के आधार पर इतिहास करता है। इतिहास के पास यह क्षमता है, यही कारण है कि परिवर्तन की गति पर विचार करने वाले विद्वानों ने एक सिरे से इतिहास को खारिज करने की कोशिश की है। यदि समाज से इतिहास को खारिज कर दिया जाता है, तो नियंत्रण करने वाली ताकतों को वर्तमान पर काबिज होने में सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं, ताकि भविष्य को अपने अनुकूल चलाने का प्रयास कर सकें। विचार की इस पद्धति के अन्तर्गत वर्चस्व कायम करने की भावना छिपी होती है, जो साहित्य और समाज के खिलाफ जाती है। यह अलग बात है कि इस सच को सामने लाने में साहित्यकारों को कठिन परिश्रम करना पड़ता है। इस परिश्रम के बिना पूरे समाज को वक्र रेखा पर खड़ा करना आसान नहीं है। वैसे साहित्यकारों से लेकर पत्रकारों तक अपने-अपने तरीके से प्रयोग-दर-प्रयोग करते हैं, यह भी बात उभरकर सामने आती है कि पत्रकार क्यों साहित्यिक दुनिया में हस्तक्षेप करने लगे हैं, प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि रचनाकारों को पत्रकारिता के क्षेत्र में क्यों नहीं आने दिया जाय? आलोचना-समालोचना का दौर जारी रहता है। रचनाकार अपनी सृजनशीलता के जरिये इस बहस में शामिल होते हैं।

बहस सच को समझने और समझाने का सबसे बड़ा साधन है। पर जब इसे साध्य बना दिया जाता है, तब संकट पैदा होता है। संकट यही है कि सच के नाम पर सफेद झूठ या अर्द्धसत्य प्रस्तुत किया जाता है। चर्चित और प्रभावशाली व्यक्तियों को इस कार्य में किसी-न-किसी तरह का उपाय खोजना पड़ता है तथा प्रभावमंडल तैयार करते हुए सत्य की रोशनी को मंद कर दिया जाता है। जहां बहस के जरिये सच को और प्रज्वलित करना उचित है, वहीं सच को दबाने की प्रवृत्ति इन दिनों हर भाषा के साहित्य में बढ़ी है। यही कारण है कि इस प्रवृत्ति के शिकार हो गये साहित्य के सिद्धांतकारों को परिवर्तन की गति तेज लगती है। कौन-सा समय ऐसा था, जब परिवर्तन की गति धीमी थी? हर काल में परिवर्तन अपनी सुनिश्चित गति से होता है। उस गति को मापने के लिए न मंत्र है और तंत्र है। इसी गति की वजह से हर तरह के मंत्र और तंत्र का निर्माण या विनिर्माण हुआ है। कौन नहीं जानता है कि जब सवार हुए यात्री को अपनी मंजिल की दूरी का पता होता है, तब वह यात्री मंजिल पर जल्दी पहुँचने के लिए अपनी गति को तेज कर सकता है।

गति तेज करने की इच्छाशक्ति किसी के पास हो सकती है, पर मात्र इच्छाशक्ति होने से गति नहीं बढ़ जाती है। दुनिया की गति इच्छा पर निर्भर नहीं करती है, वह गति परिस्थितियों पर निर्भर करती है। गति और स्थिति के बीच जो समन्वय करने की प्रक्रिया से अवगत नहीं होते, उन्हें ऐसा लगता है कि गति बढ़ गयी है। समाज के हर क्षेत्र में गति अपने ढंग से चलती और बदलती है, जो जीवन का सबसे बड़ा सच है। इस सच को उत्पादन के साधन नियंत्रण करते हैं और उत्पादन की पूरी प्रक्रिया पर जो छल-बल के साथ नियंत्रण कायम करने में सक्षम होने की इच्छाशक्ति रखता है, वही वर्चस्व कायम करने की कोशिश करने लगता है।

वह नियम-कानूनों के जरिये अपनी शर्तों की झड़ियाँ लगाने का प्रयास करता है। जनता खासकर शिक्षित जनता की चित्तवृति पर वह काबिज होने का प्रयास करता है। इसी प्रयास के जरिये वह आगे बढ़ने और स्वप्निल भविष्य बनाने की गारंटी देता है।

साहित्यकार-पत्रकार-सृजनकार अपने विचारों के जरिये उस स्वप्निल भविष्य की जांच करता है कि क्या सचमुच साहित्य या साहित्यिक प्रतिवेदन के जरिये भविष्य बेहतर हो सकता है। इतिहास यह भी बताता है कि किस-किस कालखंड में किन-किन महाप्रभुओं ने अपनी प्रभुता कायम करने के लिए 'आभासित सत्य' का सहारा लिया है। दरअसल झूठ की बुनियाद पर खड़ी दीवारें अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती हैं। सृजनशीलता उन दीवारों की बुनियाद हिलाने के लिए कदमताल नहीं करती है बल्कि दुनिया के कान में सिर्फ एक सच बतलाती है कि उनकी बुनियाद झूठ है। यह भी सही है कि उस 'झूठ' का प्रचार बड़ी तेजी से होता है।

दरअसल प्रचार एक तरह से पाखंड है। इस पाखंड से सृजनशीलता जूझती है। इसी दौरान विकास को हर आयाम मिलता है तथा उस विकास का लक्षण सामने आने की जद्दोजहद करता है; सृजनशीलता उसी सूत्र को पकड़कर आगे बढ़ने की तैयारी करती है। उसकी गति को पकड़ने की ताकत किसी में नहीं होती, यही कारण है कि बड़ा से बड़ा निजाम देखते-देखते ढह जाता है। फिर लिखने वाले उसके पतन के कारण खोजकर अपनी बुद्धिमत्ता जाहिर करना चाहते हैं, क्योंकि पतन के कारण खोजने वाले वैसा निजाम तैयार नहीं कर सकते और जब निजाम तैयार नहीं कर सकते, तब निजाम के गिरने के कारणों पर आलोकपात कर अपने मन को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। हर निजाम के गिरने के हजारों कारण हो सकते है; पर मुख्य हैं- पहला भीतरी और दूसरा बाहरी।

विद्वानों ने कहा है कि पतन के बाहरी कारण उतने जानलेवा नहीं होते हैं, जितने कि भीतरी कारण। सृजनशीलता उन दोनों कारणों की तलाश करते हुए समय विशेष के संदर्भ में कुछ मुख्य कारणों को खोजने का प्रयास करता है। इस प्रयास से सृजन का मुख्य रंग दिखता है। यही रंग चुनौतियों को स्थापित करता है। चुनौतियाँ परिवर्तन के साथ-साथ आती हैं। खासकर यह परिवर्तन कार्य-कारण का होता है। विधेयवादी विद्वानों ने अपने मतों से इसे अति सहज कर दिया है। इस पर काफी चर्चाएं हुई हैं। जब देखा गया कि समय के बदलते हालात ने उस सिद्धांत पर प्रश्न चिह्न लगा दिया, तब उस सिद्धांत की खामियों को भी सामने लाने की कोशिशें की गयीं। कभी वे कोशिशें सार्थक हुईं, तो कभी उन कोशिशों को निरर्थक साबित करने का प्रयास किया गया। इस चीर-फाड़ में जिन्दगी को क्या मिला यह एक सवाल है।

यदि चुनौतियों से टकराते हुए संभावनाओं की तलाश नहीं की जायेगी तथा उन संभावनाओं को जब तक हकीकत का जामा पहनाने का प्रयास समाज के हित में नहीं किया जायेगा तब तक आने वाले समय के लिए संदेश नहीं दिया जा सकता है। यही संदेश दरअसल सृजन का आह्वान है। इसी आह्वान के बल पर समाज हर लाइलाज बीमारी का उपचार मुहैय्या कराने के लिए प्रयासरत रहता है। उपचार करने की विधि चाहे जो हो, लोग यही चाहते हैं कि बीमारी दूर हो। समाज की बीमारी को दूर करने का साधन सृजन नहीं है, बल्कि सृजन बीमारी को चिह्नित करने का सबसे महत्वपूर्ण विजन है, जो विजन कलम के सिपाही के पास होता है। यही विजन बदलने का काम करता है। जो इस विजन की निंदा करते हैं या इस विजन को नकारने का प्रयास करते हैं, दरअसल विजन को वे गलत ढंग से छेड़ने का प्रयास करते हैं; जिसका कोई खास प्रभाव लक्षित नहीं होता है।

यही कारण है कि आशीर्वाद के बल पर फूलने-फलने वाले चरित्र का हश्र बहुत जल्दी हो जाता है; २१वीं सदी में भी उसी का महत्व सामने आने लगा है, जिसने संघर्ष को अपने पथ का पाथेय बनाया है। वैसे वित्तीय पूंजी के दबाव ने उस पाथेय में अपना हिस्सा मांगना शुरू किया है, जिसे वसूली या तोलाबाजी की संज्ञा देना अपराध नहीं होगा। २१वीं सदी ने अपराध को जीवन का वस्तुनिष्ठ उपादान साबित करने की जो जंग आरंभ की है, यह निश्चिततौर से एक भयानक सवाल है। आखिर इस बढ़ते अपराध की गति क्या है

और उसकी मंजिल कहां है? इससे समाज को किस तरह बचाया जाय, यह सोचने की बात है। चिंतक इस दिशा में लगे हुए हैं, शुभबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति निश्चित रूप से आशा की किरन खोज निकालेंगे।

दुःख का कारण बुद्ध को मिल गया पर इस समाज से दुःख दूर नहीं हुआ, दुःखी लोगों की संख्या जरूर बढ़ गयी। चारों तरफ दुःख ही दुःख है। इससे भी ज्यादा भयानक यह है कि दुःख देने वालों की संख्या में काफी इजाफा हो गया है, कोई बाप बनने के नाम पर दुःख देता है, तो कोई बेटी बनने के चलते दुःख झेलती है, तो कोई बेवजह दुःख देता है। सवाल है कि दुःख से टकराने वाला क्यों दुःखी होता है। जीवन एक धारा है, जो दुःख और सुख नामक दो किनारों के बीच से गुजरता है; सिर्फ गुजरता ही नहीं है बल्कि उन दोनों यानी दुःख-सुख से टकराता है। इसी टकराव के चलते जीवन आगे बढ़ने की ऊर्जा ग्रहण करता है। ग्रहणशीलता की यही पहचान हर काल के सृजन में अपने लिए जमीन सुरक्षित करती है। इसलिए वह पहचान पर अपना ज्यादा समय नष्ट नहीं करती है बल्कि क्या करना है, उस पर ज्यादा गंभीर दिखती है। सही अर्थों में यही गंभीर संदेश है, जिसे सृजनशील व्यक्ति अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। वैसे सुनने में यह भी आता है कि अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य पर खतरा है। इस तरह के खतरे पहले भी थे और आज भी हैं। आने वाले कल में भी इस खतरे की पूरी संभवनाएं हैं, पर सृजन की गति जारी रहेगी। क्या इस गति से समय चलता है, कौन जानता है? अभी तक किसी पत्रकार या साहित्यकार का ध्यान इधर क्यों नहीं गया है?

सही अर्थों में परिवर्तन की सारी चुनौतियों को स्वीकार करना ही संभवनाओं को रेखांकित करने की सच्चाई है तथा इस सच्चाई के आधार पर जिंदगी को सजाना सृजनशीलता का संदेश है। इस संदेश को २१वीं सदी में स्थापित करने के साथ-साथ सृजनशीलता के हर पहलू को कामयाब करना चाहे वक्त की मांग न हो, पर रचनाकर्म की पहचान जरूर है। रचनाकर्म अपनी पहचान की शुद्धता पर जितना ध्यान केंद्रित करता है, उससे कहीं अधिक इस सवाल पर निर्भर करता है कि उसमें गति है या नहीं; जिंदगी गति का नाम है, जिसे सृजनशीलता संवारने की एक चेष्टा करती है। यह सच है कि इस चेष्टा का मूल्यांकन कठिन है और मूल्यांकन से भी अधिक उसे झेलना और कष्टसाध्य है। समाज के प्रसिद्ध चिंतकों का मानना है कि लिखना कठिन है पर उससे भी कठिन उसे झेलना है।

सृजनशीलता दरअसल जिंदगी को झेलती ही नहीं है, बल्कि वह जिंदगी को आलोकित करती है। पहले कहा जाता था कि साहित्य जीवन की आलोचना है, आज इस आलोचना के संदर्भ की व्याख्या करते हुए यह बताया जाता है कि साहित्य जिन्दगी की रोशनी है। वर्तमान में यह रोशनी खतरे में है, इस पर भी टिप्पणी की जाती है। दरअसल खतरों के बीच ही जिन्दगी चलती है; जहां जोखिम नहीं है, वहां जिन्दगी का भैरवी तान भी नहीं है। साहित्य उसी तान का लिपिबद्ध दस्तावेज है, जो एक सवाल के साथ हाजिर होता है- कब रात बसर होगी। चुनौतियों और संभावनाओं के बीच संदेश देना ही सृजनशीलता का दायित्व है; यही उसकी प्रतिबद्धता भी है।

साहित्य की बुनियाद सौन्दर्य-प्रेम है। सुन्दरता, भव्यता और मानवता के पक्ष में लगातार वकालत करना साहित्यकारों का वैशिष्ट्य है। व्यक्तिगत अनुभव और ज्ञानात्मक विवेक जीवन के कैन्वस को रंगों से सजाने का काम करते हैं। दरअसल जिन्दगी की रंगत को पहचानना और उसे करुणा की भावभूमि पर स्थापित करना लेखकों का फर्ज है। इस फर्ज को काल की मांग के अनुसार प्रासंगिक बनाना चुनौतियों को एक तरह से आत्मसात करना है। महान लेखन तभी कालजयी बनता है। जब परिस्थितियों की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए एक ऐसा विकल्प प्रस्तुत करने की जद्दोजहद की जाती है; जहां भाषा विचार को सुन्दरता देती है, कल्पना मानस को वाणी से सम्पन्न करती है और अनुभूति से जीवन दृष्टि पाता है।

जीवन, अनुभूति और संवेदना के त्रिकोणात्मक प्रेम के बीच सामंजस्य बैठाना लेखन जगत की सबसे बड़ी चुनौती है। इन चुनौतियों को स्वीकार करने का सीधा मतलब है सृजनशीलता के दरवाजे को खटखटाना। सिर्फ मानवता की रक्षा के लिए नहीं, सौन्दर्य-प्रेम के लिए नहीं; बल्कि एक रहने लायक दुनिया बनाने के

लिए। जिन्दगी सिर्फ जीने का नाम नहीं है, बल्कि दूसरों को अपने साथ जिंदा रखने का नाम है। हाथ छुड़ाने से नहीं, हाथ थामने से रिश्ता बनता है और जो एक बार बन जाता है वह लाख खलल पड़ने के बावजूद कयामत के अन्तिम क्षणों तक बना रहता है।

साहित्य में विकल्प प्रस्तुत करने की अद्वितीय क्षमता होती है, जो कयामत आने के बावजूद बरकरार रहती है। यही एकमात्र कारण नहीं है, जिसके बल पर साहित्य चुनौतियों का सामना करता है, दरअसल साहित्य की बुनियाद इतनी मजबूत होती है, जिस पर चाहे जितना बड़ा प्रासाद बना डाले, जहां हर किसी को सिर छिपाने की जगह मिल जाय। बदलाव को समझना और उसके अनुसार परिस्थितियाँ पैदा करना साहित्य की बड़ी विशेषता है, उस विशेषता की वजह से साहित्य भविष्य में आने वाले संकट को न केवल सुनता है बल्कि उस संकट का विकल्प तैयार करता है। साहित्य जब विकल्प प्रस्तुत करता है, तब वह एक प्रक्रिया से गुजरता है और वह प्रक्रिया मानव जीवन को हरे पेड़ को हरा और चांदनी रात को रात कहना सिखाती है। उस प्रक्रिया का ऐतिहासिक संदर्भ होता है तथा दार्शनिक भाव लोक को वह प्रक्रिया स्थापित करती है। इसलिए वह प्रक्रिया जन-मानस के बीच साहित्य को अकेला नहीं छोड़ती है। वह प्रक्रिया अकेलेपन को दूर करते हुए जन-मानस की भावना को बड़े फलक पर स्थापित करती है। यदि कोई इस प्रक्रिया के आधार पर साहित्य को इतिहास और दर्शन के पीछे चलने वाला जत्ता मानता है, तो यह उसकी नासमझी ही होगी।

साहित्य न किसी के आगे चलता है और न किसी के पीछे। साहित्य पूरे समाज को ऊर्जस्वित करता है। जहां आर्थिक विकास और राजनीतिक दमक-दपट हांफने लगती है, वहां साहित्य पूरे समाज को आलोक पथ पर संघर्ष का पाथेय लेकर न्यौता देता है। इस पाथेय की महिमा पर आज किसी ने प्रश्न चिह्न नहीं लगाया और भविष्य में भी किसी के पास इतनी क्षमता नहीं है कि साहित्य के मर्म और कर्म पर प्रश्न चिह्न लगा पाये। साहित्य किसी सरहद को नहीं मानता है। साहित्य की सरहद क्षितिज से ज्यादा व्यापक है। व्यापकता को अपने में अंटाने का काम साहित्य ही करता है। सदा चुनौतियों का सामना करते हुए गतिशील और मानव हितैषी विकल्प प्रस्तुत करना सच्चे साहित्य का मकसद है। सच्चा मकसद मानव-जीवन को संघर्षरत बनाता है। संघर्षरत-जीवन ही इस समाज के आलोक स्तम्भ हैं तथा डूबते लोगों के हाथों के तिनके हैं।

साहित्य किसी-न-किसी रूप में वाणी प्रस्तुत करने का प्रयास है। इस प्रयास के दरम्यान साहित्य को विविध चरणों से गुजरता पड़ता है। विद्वानों ने उन चरणों को प्रक्रिया के रूप में देखने की कोशिशें की हैं। वे कोशिशें निश्चित रूप से सार्थक और सफल हैं, हालांकि उन कोशिशों पर बहस है, बहस को जीवंत बनाने के नाम पर तर्क-वितर्क का जाल भी फैलाया जाता है। यदि उस तर्क-वितर्क में समझदारी नहीं होती है या ईमानदारी नहीं है, तो तर्क-वितर्क तीन कौड़ियों के बन जाते हैं। पर समझदारी-ईमानदारी के साथ-साथ नैतिकता हो तो वे रचनाशीलता के साथ-साथ समाज को रौशन कर देते हैं। उस रोशनी में यह भी साबित होता है कि विरोध के बीच अस्तित्व बनता है। १९वीं-२०वीं शताब्दियों के विश्व- साहित्य में प्राणशक्ति खोजने का प्रयास करने पर यही मिलता है कि विरोधों के बीच सदा संघर्षशीलता को नयी रोशनी से रौशन करने के दौरान ही व्यक्तित्व कृतित्व का सच्चा विकास हुआ। भारतीय मनीषा ने बार-बार अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर इस सच को स्थापित करने का प्रयास किया है कि सच और सब कुछ न्यौछावर करने का कोई विकल्प नहीं हो सकता है। यह मानवीय गुण का अमूल्य रत्न है। इस रत्न की पहचान और पहुँच विश्व इतिहास की आलोकवर्तिका है, जो अंतिम क्षण तक विश्व को जगमग करती है।

उल्लेखनीय है कि पिछले पंद्रह-बीस सालों में साहित्य की बुनियाद पर जोरदार प्रहार हुए हैं। उन प्रहारों के सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष हैं। दोनों की चर्चाएं साहित्य की अमूल्यनिधियां हैं। उन चर्चाओं से जो निचोड़ निकलता है, वही पथ का पाथेय है। मानव सभ्यता यदि विकास का इतिहास है, तो यह मानने में विद्वानों को क्यों आपत्ति होगी कि साहित्य ही मानव सभ्यता का पाथेय है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं है कि साहित्य के अलावा और किसी विषय का

कोई महत्व नहीं है। विज्ञान-कला-वाणिज्य ने मुख्य रूप से सरहदों को मिलाया है। सच तो यह है कि इन विषयों ने भौगोलिक सरहदों को खत्म कर मानवीयता का झंडा ऊँचा किया है। साहित्य ने किसी-न-किसी विचार को बल दिया है। इस पर हजारों-हजार सवाल किये गये हैं। दरअसल सवाल करना ही किसी चुनौती का मुकाबला करने की पहली शर्त है। चुनौतियों को समझने का सरल और सहज उपाय सवाल करना है। सवाल खुद-ब-खुद एक जवाब है। लेकिन पिछले पंद्रह-बीस सालों में सवाल करने का सिलसिला बंद हुआ है। ऐसा लगता है कि शब्द को टांक दिया गया हो। शब्द और वाक्य को सहज बनाने का जो प्रपंच पैदा हुआ, उससे कविता गीत-ग़ज़ल सहित उन तमाम विधाओं को कुंद कर दिया गया है, जिन विधाओं के बल पर पूरा समाज आगे बढ़ने का स्वप्न देखता था। सही अर्थों में मानवीय संवेदनाओं और अनुभूतियों को साहित्य के जरिये जिन्दगी का जामा पहनाया जाता है।

जिन्दगी को संघर्षरत करने के सिलसिले में साहित्य का आभामंडल बनाने के लिए सृजन की खास परम्परा रही है। उस परम्परा में ऐतिहासिक संदर्भ इस तरह समाये रहते हैं, जिस तरह आकाशरूपी थाली में तारे जगमगाते हैं। साहित्य सदा आह्लादकारी शक्तियों को समन्वित करने का सतत् प्रयास करता है। विजन सम्पन्न विवेकवान व्यक्तियों के मुंह का निवाला साहित्य है। आज साहित्य की परिभाषाएं बदली जा रही हैं। साहित्य के सम्बन्ध में यह कहा जा रहा है कि साहित्य न प्रतिवाद है और न प्रतिरोध यह बताया जा रहा है कि साहित्य खाये-पीये-अघाये लोगों के लिए शब्द-क्रीड़ा है। क्या कारण है कि उन खाये-पीये-अघाये लोगों को जल-क्रीड़ा करते-करते जलाशय से बाहर निकलकर शब्द-क्रीड़ा के गलियारे में आने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है।

समकालीन साहित्य को मुनाफे का जब जरिया बनाया जायेगा, तब मुनाफा अर्जित करने वालों या पुरस्कार-प्रचार के लिए मुनाफाखोरों के पीछे खड़े होने वालों की तादाद लम्बी होगी। इस तरह के जुगाडू लेखकों की रचनाओं को सर्वश्रेष्ठ बताने की अंधी होड़ शुरू होना स्वाभाविक है। दरअसल समकालीन रचनाओं के समक्ष पुरस्कार और प्रचार की दीवारें खड़ी हुई हैं। समकालीन रचनाओं को पुरस्कार के तराजू पर तौलने की कुचेष्टा जारी हुई है। और पुरस्कार कौन देता है और क्यों देता है- इसकी पड़ताल किये बिना पुरस्कार के लिए सृजन करने की घटनाओं से मानवीय चेहरे कलंकित हुए। सड़ी-गली व्यवस्था को बदलने वाले ही सृजन से जुड़ते थे। सृजनशीलता का अर्थ जीवन की आलोचना होती है। पर अब उसे बदलकर लाभ और लोभ को साहित्य का पर्याय मानने का कुचक्र शुरू हुआ है। किताबें कहां से छप रही हैं; छपने के स्थान को प्रमुखता देकर लेखक की रचना को प्राथमिकता देने की समस्याओं ने समकालीन साहित्य के सृजन-पथ पर गतिरोध पैदा किये हैं। एक तरह से समकालीन साहित्य का कारपोरेटीकरण आरंभ हो चुका है।

समकालीन साहित्य का मूल्यांकन खरीददारी के आधार पर आरंभ हुआ है। यह एक भयानक संकट है। बेहतरीन रचनाओं को कबाड़खानों में फेंक दिया जाता है, जबकि जय- जयकार करने वाली रचनाओं को 'सदियों की सर्वश्रेष्ठ' रचना के रूप में गिनाया जाता है। जब से साहित्य का कारपोरेटीकरण शुरू हुआ है, तब से अच्छी रचनाएं नहीं आ रही हैं। वोट की राजनीति करने वालों को चारों तरफ महिमा मंडित किया जा रहा है। जनता के दर्द को समाज में नहीं आने दिया जा रहा है। बाजार के हवाले से समकालीन सृजनता को आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया जा रहा है। सृजन की दुनिया में त्रास-संत्रास और त्रासदी को बड़े पैमाने पर व्याप्त किया गया है।

समकालीन साहित्य को मूल्यांकन के आधार पर रेखांकित नहीं किया जाता है। बिक्री के आधार पर समकालीन साहित्य की श्रेष्ठता साबित करने की कुचेष्टा की जाती है, उसमें भी सरकारी खरीददारी को ही श्रेष्ठता का मानदंड बताया जाता है। इस मानदंड की कसौटी क्या है, उससे कौन अपरिचित है। इस २१वीं सदी में क्या यह बतलाने का अवकाश है कि पूंजी की मार ने किस तरह इस दुनिया को बर्बाद किया है। बड़े-बड़े महारथियों ने किस तरह निन्यानवे प्रतिशत व्यक्तियों के निवालों को छीना है। क्या इस छिनताई को अपराध नहीं कहा जा सकता है। अपराध की परिभाषा भी बदल

दी गयी है। साहित्य में इस अपराध से सम्बन्धित कितनी रचनों आती हैं। उन रचनाओं के पाठक नहीं हैं। कुछ प्रकाशक अपना लेखक तैयार करने के सिलसिले में समकालीनता के नाम पर जहर फैला रहे हैं। साम्प्रदायिक सम्प्रीति-सौहार्द्र की भावना को लहूलुहान कर घृणा-नफरत को तरजीह देने में जुटे हैं।

मानव के अधिकारों को स्थापित करने के नाम पर जनतंत्र का गला घोंटने की गूंज चारों तरफ विद्यमान है। वीर पुरुषों के हाथों में कागज की तलवारें हैं, जो छाया-युद्ध लड़ते हैं। इस युद्ध में उन्हें विजयी घोषित किया जाता है, उन्हें मसीहा बताया जाता है। उनके रथ के पहिये सड़क के गड्ढे में नहीं फंसते हैं। लाशों के ढेर लगाने वालों की वंदना में हाथ जोड़ने वालों तथा जय-जयकार करने वालों को सच्चा साहित्यकर्मी मानने का अभियान शुरू हुआ है। इस अभियान के तहत बड़ी-बड़ी गलतियां होती हैं। इसमें सबसे बड़ी कमजोरी भी उभरकर सामने आती है। यदि यह अभियान इसी तरह चलता रहा, तो सृजन का तार-तार होना अस्वाभाविक नहीं होगा। नैतिकता-नीतियों को धता बतलाते हुए सृजनशीलता के क्षेत्र से कल्पना और उद्भावना की छंटनी की जाती है। कल्पना को पंगु बनाने का खेल जोर-शोर से चल रहा है।

साहित्य को कुप्रचार का पर्याय बनाने के लिए साहित्यिक सृजनशीलता से प्रतीक-व्यंग्य-विद्रूप को बाहर निकालने का एक के बाद एक षडयंत्र किया जाता है। समकालीन साहित्य को प्रवृत्तिपरक बतलाने की होड़ में सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों पर पर्दे डालने का अभियान जारी है। चारों तरफ निराशा पैदा करने की कवायद चल रही है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि सच्चे साहित्य प्रेमियों-सृजनकर्त्ताओं ने अपने-अपने हथियार डाल दिये हैं। सच तो यह है कि समकालीन साहित्य की विविध विधाओं ने समाज के बदलाव को पहचानने का नया औजार तैयार किया। अपने पक्ष में वर्गीय संतुलन को बदलने का नया रास्ता उसने अख्तियार किया है। इस रास्ते पर चलते-चलते जीवन की विविधताओं को पहचानने की जरूरत है। इसके बिना जिन्दगी को आलोकित करना कठिन है। जिन्दगी की वास्तविकता को जानने से परिस्थितियों को बदलने में मदद मिलती है तथा सही हस्तक्षेप करना संभव होता है।

संभावनाओं की तलाश करना ही सृजनशीलता की पहली शर्त है। यह काम ज्ञान की धरती पर होता है। रचनाकारों के समक्ष यह चुनौती उत्पन्न हुई है कि वर्तमान संकट से बाहर निकलने के लिए कौन-सा रास्ता अपनाया जाय, सबको साथ लेकर चलने में मानव समाज का कल्याण है। लेकिन आज सबकी बात करने वालों का अभाव दिखता है। व्यक्ति अपनी तरफ ज्यादा मुड़ चुका है। यही कारण है कि धार अब वह करिश्मा नहीं दिखा पा रही है, जिस धार की वकालत पहले की जाती थी। रचनाकार वस्तुतः जनता का वकील है, जो परम्परा की अदालत में जन अधिकारों को स्थापित करने के लिए वकालत करता है, ताकि जनता को सिर्फ जीने का अधिकार दिला सके। पर जनता को जीने का अधिकार नहीं मिल पा रहा है। रचनाकार इस सच को अच्छी तरह जानते हैं, जब तक समाज से आर्थिक विषमता दूर नहीं होती है, तब तक इस वर्तमान समाज को रहने लायक बनाना मुश्किल है।

समाज को मात्र रहने लायक बनाना ही वर्तमान साहित्य का सबसे बड़ा काम है। इस दिशा में खासकर साहित्य आगे बढ़ रहा है। कहानी-कविता-उपन्यास-नाटक सहित विविध विधाओं पर गहरायी से विचार किया जाता है, तो यह सच सामने उभरकर आता है कि आज अभिव्यक्ति पर सबसे बड़ा हमला है। इस हमले को साहित्यकार बड़ी गंभीरता से ले रहे हैं। यही कारण है कि बड़ी संख्या में नये-नये रचनाकार आ रहे हैं। व्यापक संख्या में पत्रिकाएं छप रही हैं। बड़े पैमाने पर सोशल मीडिया से नयी पीढ़ी जुड़ रही है। अपनी भावनाओं को आपस में मिलाया जा रहा है। विश्लेषण-विवेचन का नया रास्ता बनाने का प्रयास कारगर बनता नजर आने लगा है। वैसे हजारों-हजार सवाल भी उठाये जा रहे हैं। कभी उसकी गंभीरता पर सवाल खड़े होते हैं, तो कभी उसकी मर्म वस्तु को लेकर संदेह पैदा होता है। इस संदेह पर नजर दौड़ाये बिना ही उसे कभी-कभी अफवाह मान लिया जाता है।

वर्तमान में आलोचना प्रक्रिया को जीवनोन्मुख बनाना सबसे कठिन रचना-कर्म है। समाज को आलोचना

से काटने का प्रयास किया जा रहा है। यदि आलोचना की प्रक्रिया कुंद होती है, तो सामाजिक क्षरण को रोकना कठिन हो जाता है। हर नयी चीज को सामाजिक क्षरण कहने का नया फैशन बन जाता है। इससे समाज का भारी नुकसान होता है। जब तक उस नुकसान को समझने की काबलियत अर्जित की जाती है, तब तक गंगा में कितना पानी इधर से उधर बह निकलता है। आलोचना किसी कीमत पर विमर्श नहीं हो सकती है। आलोचना की अपनी धरती है तथा उसकी अपनी थाती है। आलोचना पर वर्चस्ववादियों का कब्जा है। सृजनकर्त्ता इस कब्जे के विरुद्ध लगातार लड़ते हैं। कभी उन्हें सफलता मिलती है,

कभी वे असफल होते हैं। साहित्य का क्षेत्र सफलता-अफसलता पर निर्धारित नहीं होता है। वैसे आज कल आलोचना को जीवन से काटने की चेष्टा की जाती है। आलोचना को ऐतिहासिक संदर्भ से पूरी तरह अलग-थलग कर दिया जाता है तथा आलोचना को दार्शनिक भावना से लैस करने के नाम पर प्रभुओं को खुश करने की प्रवृत्ति अपनायी जाती है। इसके चलते तरह-तरह की बाधाएं उत्पन्न होती हैं।

साहित्य को जब इतिहास और दर्शन से अलग कर दिया जायेगा, तब साहित्य सिर्फ 'कथनी' बन जायेगा। साहित्यकार यदि कथनी का शिकार हो जायेंगे, तो समाज की समस्याओं का समाधान खोजना मुश्किल होना स्वाभाविक है। हर सृजन को 'करनी' बनाने का जोखिम उठाने का सवाल एक ज्वलंत चुनौती है। यदि साहित्य संदेश को सामने रखता है, तो उसे कथनी पर नहीं करनी पर भरोसा करना होगा। विश्व के पैमाने पर आलोचना को कथनी का दर्जा देने की साजिश की जा रही है, ताकि दर्शक सिर्फ देखता रहे तथा पाठक सिर्फ पढ़ता रहे। आज भी भक्ति आंदोलन से सम्बन्धित साहित्य अपनी करनी के बल पर प्रासंगिक है। रामकथा साहित्य आज की समस्याओं का निरूपण करने में सफल साबित हुआ है, जबकि उत्तर आधुनिकता ने विचार के नाम पर बवन्डर पैदा किया है। इस डिजिटल-युग की समस्याओं का विवेचन किस तरह से किया जाय, इसका 'उत्तर' उत्तर-आधुनिकता के पास नहीं है। इसके बारे में यही कहा जाता है कि उत्तर-उत्तर आधुनिकता का युग आरंभ हो चुका है।

साहित्य के बड़े-बड़े पंडित इस उत्तर-उत्तर आधुनिक युग का सही विवेचन उस हिम्मत के साथ नहीं कर पाते हैं, जिस हिम्मत के साथ उन्हें अपना दम दिखाना चाहिए। वर्तमान समय में चारों तरफ दम दिखाने की प्रतियोगिता चलती नजर आ रही है। जो जीत गया वही सिकंदर है और जो हार गया उसके बारे में कौन सोचेगा। इस हारे हुए व्यक्ति की जिम्मेदारी कौन लेगा- साहित्य और साहित्यकार के अलावा कौन दूसरा है, जो उनकी जिम्मेदारी ले। साहित्य हमेशा दायित्व का निर्वाह करता है। यह काम सृजनशीलता के जरिये सम्पन्न होता है। जो रचनाकार समाज के प्रति प्रतिबद्ध हैं, उनकी प्रतिबद्धता समाज को नयी दिशा देती है। समाज को आगे बढ़ने के लिए आलोचकीय मानदंड का निर्धारण नितांत जरूरी है।

साहित्य की आलोचना पद्धति को बनाने के लिए युगीन चेतना से लैस करना जितना आवश्यक है, ठीक उतना ही जनता की इच्छा-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए ठोस कदम उठाना जरूरी है। यही कारण है कि साहित्य सिर्फ प्रवृत्तियों की व्याख्या नहीं करता है, बल्कि प्रवृत्तियों के मूल स्रोत को पकड़ता है। जैसे रोग के निदान के लिए प्रवृत्तियों के विश्लेषण की अपेक्षा उसके मुख्य स्रोत को पकड़ना जरूरी है। साहित्य के समक्ष आज एक बड़ी चुनौती यह पैदा हो गयी है कि कुछ विद्वान उसे व्याख्यान बनाने में जुट गये हैं, तो कुछ बुद्धिमान उसे प्रवचन बनाने के लिए अपना खून पसीना एक किये हुए हैं, इसलिए कि व्याख्यान और प्रवचन से गाढ़ी कमाई मिलती है, जहां सिर्फ विवरणात्मक मिथ्याचार को तरजीह दी जाती है। हृदय छूने के नाम पर कृत्रिम हृदय बनाने की बात की जाती है। संघर्ष को नासमझी का पर्याय बनाने की कसरत आज तेज हुई है।

मानव जीवन के सामने चुनौतियां उत्पन्न हुई हैं, जो साहित्य में फलित हुई हैं। इस संदर्भ में यह चर्चा होती है कि साहित्यकारों को कहां से देखना चाहिए। जब देखने के संज्ञान की चर्चा होती है, तब यही स्थापित किया जाता है कि साहित्य मुनाफे का सौदा नहीं है और जहां मुनाफा ही एकमात्र मानदंड बन गया हो, वहां साहित्य का मूल्यांकन किस आधार पर होगा, यह एक

विचाराधीन सवाल है। यह सच है कि साहित्य फतवा नहीं है। साहित्यिक जगत के पेड़ों में फरमान से फल नहीं लगते या तलवार तान लेने से ही परिवर्तन नहीं होते, बल्कि परिवर्तन की पूर्व शर्तें होती हैं, उन शर्तों को पूरा करने के लिए समाज अपना रचनाकार पैदा करता है। जब सत्ता के गलियारे से साहित्यकार आता है, तब उसमें चमक-दमक निश्चित तौर पर विद्यमान होती है। वहाँ विमर्श का तूफान खड़ा किया जाता है, नयेपन के नाम पर कूड़ा परोसा जाता है।

परिवर्तन को बिना सोचे-समझे अपनाना किसी कीमत पर अच्छा नहीं है, हालांकि चाहे जितना अच्छा 'आने' का प्रचार क्यों न किया जाय। इसलिए कि साहित्य भविष्य की 'गंगा' को स्वच्छ करने पर ज्यादा ध्यान देता है, क्योंकि साहित्य 'करनी' के जरिये जनमानस का भविष्य उज्ज्वल बनाता है। जब तक कथनी को साहित्यिक जामा पहनाकर रखा जायेगा, तब तक किसी हाल में सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का सही मूल्यांकन नहीं होगा। और सही मूल्यांकन नहीं करने के चलते भ्रम पैदा होता है। खासकर वर्तमान समय में जितने भ्रम पैदा हो रहे हैं, उनकी जड़े विमर्श से जुड़ी हुई हैं।

विमर्श सामाजिक यथार्थ पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए सामाजिक गतिशीलता पर लगाम लगाने का प्रयास करता है; पूरे समाज को एक खोल में बंद करने की चेष्टा करता है। इसलिए विगत दिनों में जितने तरह के विमर्श उठाये गये हैं, उन तमाम किस्म के विमर्शों के जरिये उन समुदायों को किसी तरह का खास लाभ नहीं मिला, जिन समुदायों के नाम पर विमर्श उठाये गये थे, वे धीरे-धीरे मंद पड़ गये। आज उन विमर्शों की ठंडी राख बची हुई है; साहित्य के कुछ 'नागा बाबा' उस राख को अपने शरीर में लेप कर भरतमुनि के दर्शन के लिए गंगा सागर में भीड़ जमा करते हैं या कुंभ नहाने के लिए गंगा में डूब मारते हैं। उन नागा बाबाओं ने इतनी डूब लगायी कि गंगा को भी स्वच्छ करने का मामला थोड़ा आजकल गरम हो गया है। कभी किसी कथनी को करनी में बदलने के लिए संघर्ष करना पड़ता था। यदि कहा जाता था कि साहित्यिक संतन को पैसे की क्या जरूरत है, तो वे संतन अपने जीवनकर्म में उसे उतार लेते थे और आज कथनी को जीवन में नहीं उतारा जाता है। बल्कि उसे जीवन-कर्म से बाहर निकालकर फेंका जाता है। इसके चलते भी साहित्य के समक्ष चुनौतियां उत्पन्न हो चुकी हैं। उन चुनौतियों से मुठभेड़ करने से रास्ता निकलता है। दरअसल रास्ता बनाना पड़ता है।

साहित्यिक जगत में रास्ता बनाना एक तरह से कठिन और जटिल प्रक्रिया के बीच से गुजरना है। इस रास्ते पर स्वाधीन चेता व्यक्ति आगे बढ़ते हैं। साहित्य के सामने जितनी तरह की चुनौतियां उत्पन्न होती हैं, उन तमाम तरह की चुनौतियों का मुकाबला अनुभव के आधार पर किया जाता है, जिसके लिए लगातार अभ्यास किया जाता है। जीवन में अभ्यास की अपनी पहचान है। अभ्यास की रंगत जब दिखती है, तब प्रतिभा सामने आती है और साबित किया जाता है कि अमुक रचनाकार ने अपनी प्रतिभा की बदौलत युग की सच्चाइयों को न केवल समझा बल्कि उन सच्चाइयों को सार्वजनिक बनाया। सबको लेकर साथ चलने का पहला अध्याय सबको जोड़ना है। यदि साहित्य का कोई बैनर इस कार्य में जुट गया, तो उसकी जय-यात्रा को रोकना किसी के वश की बात नहीं है। जय यात्रा पर निकले पथिक का शंखनाद सदा मानवीय मूल्यों की रक्षा करता है, जो शब्दों के चमत्कार पर विश्वास नहीं करता है।

सच्चे अर्थों में चमत्कार जीवन नहीं है। जीवन का रस सहजता में विद्यमान है। साहित्य एक तरह से जीवन का रस है, जो सदा अपनी अक्षुण्णता के लिए प्रसिद्ध है। मानव-सभ्यता को जीवन ही नया आयाम देता है, जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य के जरिये होती है। हर संकट को बड़ी सहजता के साथ लेकर साहित्य उपस्थित होता है तथा जनता की भागीदारी को समाज में स्थापित करता है। साहित्यिक चर्चाएं कभी कहीं अटकती नहीं हैं बल्कि मानव-जीवन के रास्ते को और चौड़ा करती हैं। उन चर्चाओं को यथार्थवादी नजरिये से देखने की जरूरत है। सही अर्थों में जीवन का सच्चा अनुभव ही साहित्य का असल प्राण है।

मानव सभ्यता की गति साहित्य के जरिये संचालित और नियंत्रित होती है। इस संचालन और नियंत्रण के बारे में जब-जब प्रश्न उठते हैं, तब-तब एक नया मुकाम बनता है। यही मुकाम साहित्यिक कर्मों की

उपलब्धियां हैं, उन उपलब्धियों को लेकर विकास पथ पर समकालीन साहित्य की जय-यात्रा जारी है। इस यात्रा में समाज के विभिन्न स्तर के व्यक्ति शामिल हो रहे हैं। विगत हजारों सालों से मानव सभ्यता कठिन डगर पर चलने का एक उन्मेष है। समकालीन साहित्य ने जन-जीवन की दिनचर्या को स्थापित किया है। अतीत के अनुभवों के आधार पर समकालीन साहित्य ने जिस तरह अनुशीलन शुरू किया है, उस अनुशीलन के जरिये सारी चुनौतियां का न केवल मुकाबला किया जा सकता है बल्कि एक विवेकवान विकल्प की स्थापना संभव है। इन्हीं संभावनाओं को रेखांकित करना तथा उन्हें हकीकत का जामा पहनाना साहित्यकर्मियों का फर्ज है। इस मर्म को समझना तथा समझाना वर्तमान की मांग है; इस मांग की आपूर्ति ही गतिशील-ऊर्जावान विकल्प की शानदार प्रस्तुति है। यही प्रस्तुति मानव और मानवता का ध्वजावाहक है, जहां चुनौतियां आत्मसमर्पण करती नजर ही नहीं आती हैं बल्कि मानवीय मूल्यों की मांग के आधार पर अपना रुख बदलने के लिए मजबूर हैं। यही सृजन की ताकत है। इसी ताकत के बल पर यह कहना नितांत जरूरी है कि सृजन का विकल्प सृजन है, जो मानव-सभ्यता को सदा ऊर्जस्वित करता रहा है और भविष्य में भी घोर तूफानों में दीया जलाने का अदम्य साहस रखता है। यही साहस भाषा और साहित्य की बुद्धिमत्ता की बानगी है, जो काल की चुनौतियों का मुकाबला करते हुए करुणा का सागर चारों तरफ फैलाने का एक हद तक प्रयास करता है।

इसी प्रयास के जरिये निर्माण का काम संभव होता है, यह प्रयास भाषा के जरिये ही सफलता और सार्थकता प्राप्त करता है। इसका मुकम्मल स्वरूप राष्ट्र निर्माण में देखने को मिलता है। अतः राष्ट्र निर्माण में भाषाओं की भूमिका अमरत्व की तरह है, जो एकता और अखंडता की बानगी है और भविष्य का पथ-प्रदर्शक है।

●●

एन्कोडिंग एवं लिपि चिन्हों का अंतरसंबंध

डॉ गिरीश चन्द्र पाण्डेय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

कंप्यूटर एवं भाषा का अंतर संबंध दिन प्रतिदिन गहराता जा रहा है किन्तु शुरुआती दौर में जब कंप्यूटर का अविष्कार हुआ तब लगभग सभी कार्य मशीनी भाषा में होता था, यही कारण है की असेंबली लैंग्वेज का प्रोग्राम मशीनी भाषा में अर्थात बायनरी (०,१) में लिखा जाता था जिसको कंप्यूटर वैज्ञनिकों अथवा प्रोग्राम विकास कर्ताओं को समझने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। समय के साथ जैसे-जैसे कंप्यूटर का विकास होता गया, कंप्यूटर में भी भाषा के पक्ष को जोड़ने का उपक्रम शुरू हो गया ।

कंप्यूटर को प्राकृतिक भाषा से जोड़ने के लिए एन्कोडिंग की भूमिका अहम है। इसे इस तरह से भी कहा जा सकता है कि यदि एन्कोडिंग ना होता तो शायद आज के समय में कंप्यूटर में हम प्राकृतिक भाषाओं का उपयोग नहीं कर पाते। हम जानते हैं कि प्रत्येक प्राकृतिक भाषा की अपनी एक लिपि है तथा उसके अपने कुछ लिपि चिन्ह हैं, इन्ही लिपि चिन्हों का उपयोग कर हम सभी लिखने पढ़ने का काम करते हैं। एन्कोडिंग के माध्यम से इन्हीं लिप चिन्हों को भाषा की प्रस्तुति के लिए कंप्यूटर के अंतर्गत संग्रहित किया गया है।

प्रारंभ में केवल रोमन लिपि के लिए एन्कोडिंग सिस्टम विकसित किया गया था जिसे हम ASCII तथा हिंदी में 'आस्की' के नाम से जानते हैं, इसका विस्तृत रूप American Standard Code for Information Interchange है, यह एक मानक एन्कोडिंग सिस्टम है यह सिस्टम अमेरिकी उद्योग संस्थाओं द्वारा विकसित किया गया था जो टेक्स्ट को एक समान ढंग से संग्रहित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। स्टैंडर्ड कोड का तात्पर्य है कि प्रत्येक रोमन के ग्लिफ़ के लिए बाइनरी कोड निर्धारित है जिसका कोड कभी बदलेगा नहीं अर्थात मानक कोड है। इनफॉरमेशन इंटरचेंज का तात्पर्य है कि कंप्यूटर कोड को टेक्स्ट में तथा टेक्स्ट को कंप्यूटर कोड में बदला जाता है। यहां ग्लिफ़ को भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ग्लिफ़ क्या है? ग्लिफ़ एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ नक्काशी होता है, सूचना प्रौद्योगिकी में ग्लिफ़ एक ग्राफिक प्रतीक है जो एक कैरेक्टर को स्वरूप प्रदान करता है। ग्लिफ़ एक वर्ण या संख्यात्मक फ़ॉन्ट या कोई अन्य प्रतीक/चिन्ह या वर्ण का विशिष्ट आकार का डिज़ाइन हो सकता है जो एक एन्कोडेड कैरेक्टर को चित्रित करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं किसी फॉन्ट के कैरेक्टर सेट का प्रत्येक करैक्टर अपने आप में एक ग्लिफ़ है।

'आस्की' मूल रूप से टेली-प्रिंटर, या टेली-

टाइपराइटर के लिए विकसित किया गया था, लेकिन १९८१ में पहली बार आईबीएम(इंटरनेशनल बिजनस मशीन) के पीसी (पर्सनल कंप्यूटर) में इसका व्यापक अनुप्रयोग किया गया।

प्रारंभ मे 'आस्की' एक ७ बिट का बायनरी कोडिंग सिस्टम था जिसमें १२८ अक्षरों के संख्यात्मक बायनरी कोड निर्धारित किए गए थे। इस सिस्टम में प्रत्येक अक्षर या ग्लिफ़ के लिए एक अद्वितीय बाइनरी कोड निश्चित किए गए थे जो उस अक्षर को कंप्यूटर में संग्रहित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। हम सभी जानते हैं कि बायनरी में केवल दो ही संख्याएं होती हैं, ० और १, इस नंबर सिस्टम का आधार २ होता है, २ की घात ७ अर्थात (२७) करने पर जो गणितीय परिणाम आएगा वह १२८ होगा। यहाँ पर एक सूत्र (२ह) का उपयोग हो रहा है जिसका जिक्र आगे किया गया है। इस तरह ०, १ के कुल ७ बिट लेने पर १२८ अद्वितीय बायनरी नंबर के संयोजन (combination) प्राप्त होंगे। इन्हीं अलग-अलग १२८ नंबरों पर एक-एक करैक्टर को प्रतिचित्रित किया गया था, इसे निम्नलिखित सरिणी के माध्यम से भी समझा जा सकता है-

संख्या(decimal)	ASCII - ७(Binary)
०	०००००००
१	०००००० १
२	०००००१०
३	०००००११
४	००००१००
५	००००१०१
.	.
.	.
.	.
१२७	११११११११

उक्त सरिणी से स्पष्ट है कि 2n =2x2x2 ... n बार, यहाँ n कोड में बिट की संख्या अर्थात ७ को दर्शाता है, जिसके लिए कुल १२८ अद्वितीय संयोजन प्राप्त हुए हैं।

ASCII-७ में ० से ९ तक की संख्याओं तथा कुछ अंग्रेजी के अक्षरों का ASCII-७ कोड उदाहरण स्वरूप कुछ इस प्रकार होगा-

लिपि चिन्ह	ASCII-७ कोड
०	०११००००
१	०११०००१
२	०११००१०
३	०११००११
४	०११०१००
५	०११०१०१
६	०११०११०
७	०११०१११
८	०१११०००
९	०१११००१
A	१००००० १
B	१०० ००१०
C	१००००११
D	१०००१००
a	११००००१
b	११०००१०
c	११०००११

बाद में यह १२८ कोड सभी रोमन लिपि चिन्हों जैसे लोअरकेस अक्षर (a, b, c.. z), अपरकेस अक्षर (A, B, C, ... Z), संख्या (० - ९), अन्य करैक्टर, सिंबल्स, मैथमेटिकल सिंबल्स, स्पेशल करैक्टर, तथा नॉन प्रिंटिंग करेक्टर्स को देखते हुए कम पड़ने लगे, तब ८ बिट एस्की कोड की संकल्पना को साकार किया गया। अतः अब २ ८$_{८}$ २५६ कैरेक्टर की कोडिंग संभव हो गई थी। जिसमें रोमन लिपि के लगभग सभी चिन्हों को स्थान प्राप्त हो गया था, अर्थात कोड प्राप्त हो गया था किंतु अन्य भाषाओं एवं भारतीय भाषाओं के लिए अभी भी कोई मानक कोडिंग सिस्टम उपलब्ध नहीं था।

'आस्की' कैरेक्टर सेट को २ भागो में बांटा जा सकता है -

प्रिन्ट करने योग्य कैरेक्टर (Printable Characters)

प्रिन्ट न कर पाने योग्य कैरेक्टर (Non Printable Characters)

प्रिंट करने योग्य कैरेक्टर (Printable Characters) : ये वे कैरेक्टर्स होते है, जो कि हमें स्क्रीन पर प्रिंट होते हुए दिखते है। जैसे- अक्षर ,अर्ध विराम, विराम चिह्न, इत्यदि जैसे कैरेक्टर्स को प्रिंट करने योग्य कैरेक्टर (printable characters) कहा जाता है।

प्रिन्ट न कर पाने योग्य कैरेक्टर (Non Printable Characters): ये वे कैरेक्टर्स होते है, जो हमें स्क्रीन पर प्रिंट होते हुए नही दिखते है, जैसे कि कैरिज रिटर्न, स्पेस, टैब, बैकस्पेस, डिलीट इत्यदि, किन्तु इनके लिए भी आस्की कोड निर्धारित किए गये हैं।

'आस्की' सिस्टम विशेष रूप से रोमन लिपि या यू कहें कि इंग्लिश भाषा के लिए बनाया गया था, लेकिन इसे विभिन्न भाषाओं के लिए भी फॉन्ट बनाकर उपयोग किया जाने लगा था परंतु इसकी समस्याएं भी थी, यदि एक टेक्स्ट/पाठ किसी दूसरे कंप्यूटर में स्थानांतरित किया जाता था और वहां पर यदि संबंधित फॉन्ट उपलब्ध नहीं होता था या किसी कारण से हट जाता था, तो सारा पाठ रोमन लिपि अर्थात इंग्लिश फॉन्ट में दिखाई देने लगता था। आज भी बहुत सारे हिंदी के फॉन्ट ऐसे हैं जो अभी भी 'आस्की' कोडिंग पर प्रतिचित्रित कर बनाए गए हैं, जिनमें टाइप किए हुए पाठ यदि फॉन्ट हटा दिया जाए तो अंग्रेजी में दिखने लगते हैं, उदाहरण के लिए देवलिस, कृति देव, कृष्णा, चाणक्य अदि, हिंदी के ऐसे फॉन्ट हैं जो कि 'आस्की' पर अतिछादित करके बनाए गए हैं।

१९९० के दशक मे कंप्यूटर पर भारतीय भाषाओं की सुविधा के लिए काफी काम किया गया। डेटा-विनिमय के लिए भारतीय लिपियों की कोडिंग के लिए एक सामान्य मानक होना जरूरी था। ISCII जिसे हिंदी में 'इस्की' से उच्चरित करते हैं, ने भारतीय मानकों की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

ISCII को १९८६-८८ के दौरान भारत सरकार के इलेक्ट्रॉनिक्स विभाग द्वारा एक मानकीकरण समिति बनाकर विकसित किया गया था, जिसमें C-DAC(Centre for Development of Advanced Computing) भी एक सदस्य था। १९९१ में भारतीय मानक ब्यूरो ने इंडियन स्टैंडर्ड कोड फॉर इंफॉर्मेशन इंटरचेंज (ISCII) को अपना लिया, 'इस्की' के दस्तावेज़ भी BIS कार्यालयों मे घ्१३१९४:१९९१ के रूप में उपलब्ध है। इस दौरान C-DAC ने बहुभाषी (मल्टीलिंगुअल) कंप्यूटिंग सपोर्ट के तहत ग्राफिक्स और इंटेलिजेंस आधरित स्क्रिप्ट टेक्नोलॉजी (GIST) को भी जारी किया जो कि एक हार्डवेयर और सॉफ्टवेयर का संयोजन था। सीडैक के अनुसार सभी GIST उत्पाद 'इस्की' पर आधरित हैं। इसके अलावा, इसका उपयोग IBM द्वारा PC-DOS में तथा Apple द्वारा भी अपने उत्पाद में किया गया है साथ ही कई कंपनियां इस पर आधरित उत्पाद विकसित कर रही हैं।

'इस्की' न केवल भारत की हिंदी भाषा (देवनागरी) लेखन प्रणलियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक कोडिंग योजना है, बल्कि यह मुख्य भारतीय लिपियों जैसे- बंगाली, असमिया, गुजराती, गुरुमुखी, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, तमिल और तेलुगु को भी सपोर्ट करती है।

कुछ सरकारी संस्थानों जैसे- भारत निर्वाचन आयोग, भूमि रिकार्ड विभाग अदि को अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाय तो 'इस्की' का व्यापक रूप से उपयोग नहीं हो पाया, हालांकि क्लासिक मैक ऑपरेटिंग सिस्टम, मैक ऑपरेटिंग सिस्टम देवनागरी, आदि पर इसका उपयोग किया गया था, किन्तु यूनिकोड आने के पश्चात इसका प्रचलन लगभग समाप्त सा हो गया है।

यूनिकोड प्रत्येक इंडिक लेखन प्रणाली के लिए एक अलग ब्लॉक का उपयोग करता है, और मोटे तौर पर प्रत्येक ब्लॉक के भीतर 'इस्की' लेआउट को संरक्षित करता है।

'आस्की' और 'इस्की' एन्कोडिंग के बाद, अन्य एन्कोडिंग सिस्टम जैसे Unicode, UTF-८ और UTF-१६ भी आ चुके हैं ।

यूनिकोड मानक प्रत्येक वर्ण के लिए एक अद्वितीय

संख्या प्रदान करता है, चाहे कोई भी प्लेटफ़ॉर्म, डिवाइस, एप्लिकेशन या भाषा हो। अब डेटा में बिना किसी गड़बड़ी के कई भिन्न-भिन्न प्लेटफार्मों, उपकरणों के बीच डाटा आदान-प्रदान की अनुमति देता है। युनिकोड एक अंतरराष्ट्रीय स्टैंडर्ड है जो टेक्स्ट को विभिन्न भाषाओं में लिखने और प्रदर्शित करने के लिए उपयोग किया जाता है। यह एक संयुक्त एन्कोडिंग सिस्टम है, जिसका उपयोग दुनिया भर में टेक्स्ट को कंप्यूटर कोड में तथा कम्प्यूटर कोड को टेक्स्ट मे बदलने के लिए किया जाता है। इसे लगभग सभी आधुनिक सॉफ्टवेयर प्रदाताओं द्वारा अपनाया गया है

यूनिकोड का सपोर्ट लगभग सभी प्रमुख ऑपरेटिंग सिस्टम, सर्च इंजन, ब्राउज़र, लैपटॉप, स्मार्ट फोन और अन्य सॉफ्टवेयरों में उपलब्ध है। Unicode एन्कोडिंग सिस्टम विभिन्न वर्णक्रमों के लिए विभिन्न एन्कोडिंग स्टैंडर्ड्स प्रदान करता है। UTF(Unicode Transformation Format)-८, UTF-१६ और UTF-३२ इनमें से कुछ मुख्य एन्कोडिंग स्टैंडर्ड्स हैं। UTF-८ एक ८ बिट एन्कोडिंग है जो 'आस्की' के समान है। UTF-१६ एक १६ बिट एन्कोडिंग है, जो १६ बिट के सभी अक्षरों को संग्रहीत कर सकता है, जबकि UTF-३२ एक ३२ बिट एन्कोडिंग है युनिकोड एक स्टैंडर्ड एन्कोडिंग सिस्टम है जो विभिन्न भाषाओं, लिपियों, वर्णों और संकेतों के लिए एक ही एन्कोडिंग स्कीम प्रदान करता है। यह एक बहुभाषी एन्कोडिंग सिस्टम है, जो विभिन्न भाषाओं के लिए अक्षरों, संकेतों और विशेष चिह्नों को संग्रहीत करता है। यह समान रूप से अपनाये जाने वाला एन्कोडिंग सिस्टम है, इसी कारण से इसे यूनवर्सल कोड कहा जाता है।

युनिकोड का एक उद्देश्य था कि भाषाओं, लिपियों और संकेतों के लिए एक ही एन्कोडिंग सिस्टम प्रदान करना। पहले एन्कोडिंग सिस्टमों में, विभिन्न भाषाएं अलग-अलग एन्कोडिंग स्कीम में होती थीं जिससे एकरूपता की कमी और असमंजस की स्थिति बनी रहती थी। युनिकोड ने इस समस्या को हल कर दिया है।

युनिकोड का अनुक्रम एक युनिकोड संख्या है, जो आठ बिट से लेकर चौंसठ बिट तक की हो सकती है। उन वर्णों को जो एक साथ होते हैं, जैसे कि दो वर्णों का संयोजन अर्थात संयुक्ताक्षर को एक ही युनिकोड संख्या में एन्कोड किया गया है। युनिकोड का विकास यूनिकोड कंसोर्टियम द्वारा किया गया है जो कि एक गैर-लाभकारी संगठन है तथा माउंटेन व्यू, कैलिफोनिन्या में स्थित है। इसका प्राथमिक उद्देश्य यूनिकोड मानक को बनाए रखना और प्रकाशित करना है।

संदर्भ सूची :

Computer System Architecture, Mano, M. Morris1976

https://www.cdac.in/index.aspx?id=gist

https://home.unicode.org/

http://plato.asu.edu/MAT420/beginning_perl/3145_AppF.pdf

डॉ गिरीश चन्द्र पाण्डेय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

राष्ट्रीय चेतना और रीतिकालीन प्रवृत्तियों का मूल्याँकन

संजय गौतम

एसोसिएट प्रोफेसर,
ज़ाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली
संपर्क - sgautam20@gmail.com

राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में अपना योगदान दे रहे आधुनिक युग के आरंभिक साहित्यकारों व आलोचकों ने राष्ट्र की शक्तिशाली पुरुषोचित गुणों पर आधारित धारणा पर भी ध्यान दिया है। जिसमें साहित्य में अभिव्यक्त 'जनानेपन' और 'मर्दानेपन' के भावों की छंटनी एक महत्त्वपूर्ण काम थी। खड़ी बोली और ब्रजभाषा संबंधी विवाद का एक पहलू यह भी था कि इसमें ब्रजभाषा को 'जनानेपन', दूसरे शब्दों में, कोमल भावों कि अभिव्यक्ति कर सकने वाली भाषा से जोड़कर देखा गया। इस प्रक्रिया का उद्देश्य शक्तिशाली समाज या राष्ट्र का निर्माण करना था, जिसमें 'स्त्रैण' बना देने वाली अथवा इस प्रकार के भावों को बढ़ावा देने वाली किसी भी परंपरा को नकारना आवश्यक समझा गया। इसी से जुड़ी हुई एक प्रक्रिया थी, अश्लील साहित्य या साहित्य की अश्लील प्रवृत्तियों का नकार। इसीलिए द्विवेदीयुग और उसके बाद की अनेक रचनाओं में अश्लीलता को उभारने वाले साहित्य का विरोध दिखाई देता है। ऐसा करने के पीछे समाज को इसके दुष्प्रभाव से बचाने की चिंता जाहिर की गई। यह भी माना गया कि इस प्रकार का साहित्य न केवल व्यावहारिक धरातल पर गड़बड़ी पैदा करता है बल्कि इसके कारण ब्रह्मचर्य जैसे आवश्यक सिद्धान्त खतरे में पड़ रहे हैं, और जिससे यहाँ के 'नौजवानों का स्वास्थ्य बिगड़ रहा है।' इस दृष्टि से संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य भाषाओं का श्रृंगार रस से परिपूर्ण साहित्य स्वयं ही निशाने पर आ गया। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा-'दुख की बात यह है कि हमारे यहाँ गंदा, अश्लील साहित्य इतना ज्यादा है, हमारे पुराण और दूसरे ग्रंथ इस प्रकार की बातों से भरे हुए हैं कि जिनकी वजह से हमारे चरित्र का दर्जा बहुत नीचा हो गया है। ...हमारी हिंदी और संस्कृत का साहित्य बहुत अधिक श्रृंगार रस में रंगा हुआ है। जिस बिहारी-सतसई की इतनी तारीफ गाई जाती है ... वह है क्या चीज? अश्लीलता, गंदगी और भद्दी बातों का संग्रह ही तो हैं। ऐसी पुस्तकों का जला देना चाहिए था।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०१ में 'नायिका भेद' पर एक लेख लिखा था। नायिका भेद आदि का प्रचार करने वाली साहित्यिक पुस्तकों के समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस लेख में निम्न शब्दों में रखा-

'.... यही बातें विलक्षण उक्तियों के द्वारा इस प्रकार की पुस्तकों में लिखी गई हैं। सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़कर कोई शक्ति हो सकती है? युवकों को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे भी बलवती और कोई आकर्षण युक्ति हो सकती है? हमारे हिंदी साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकों का आधिक्य होना हानिकारक है; समाज के सच्चरित्र की दुर्बलता का दिव्य चिह्न है।..... यही नहीं, आज जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बंद हो

जाना चाहिए। इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि नहीं पहुँचेगी; उल्टा लाभ होगा।' हिंदी साहित्य की रीतिकाल की परंपरा में श्रृंगार की अतिशय अभिव्यक्ति को समाज पर दुष्प्रभाव कारक माना गया। आधुनिक परिस्थितियों में इस प्रकार के साहित्य में आए परकीया-भाव और नायिका भेद आदि को नकारे जाने के पीछे उसके समाज पर होने वाले संभावित दुष्प्रभाव का डर अधिक दिखाई दे रहा था। कई बार तो हिंदी साहित्य की कविताओं के संकलन में यह काल गायब ही कर दिया गया। उदाहरण के लिए धीरेन्द्र वर्मा और गंगा प्रसाद जी ने 'छात्रों के लिए' एक 'हिंदी कविता-संग्रह' (इलाहाबाद, १९२८ में) तैयार किया जिसमें साफ शब्दों में संग्रह का उद्देश्य 'कविता की शुद्ध-आत्मा का आभास' दिलाना बताया गया। इस संग्रह में राधा के प्रेम और रीतिकाल की किसी भी कविता की एक पंक्ति भी शामिल नहीं की गई। अपने युग के भावों के अनुसार ही इस विषय पर चिंता जताते हुए कवि मैथिलीशरण गुप्त ने सन १९१४ में कहा-

'श्रुति शास्त्र, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत हटे,
वे नायिका भेदादि उनके स्थान में हैं आ डटे।
कवि-कर्म्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ,
वह वीर रस भी स्मर-समर में हो गया परिणत यहाँ।।'

इस प्रकार श्रृंगार की तुलना में वीर रस को श्रेष्ठ माना जाना राष्ट्र के पौरुषवादी चिंतन के लिए आवश्यक समझा गया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में परंपराओं के अन्वेषण की प्रक्रिया में निरंतर साहित्य में व्यक्त अश्लीलता की प्रवृत्तियों को भी उजागर करते चलते हैं। निर्गुण पंथ इस दृष्टि से देखे जाने पर खरा उतरता है और आचार्य की प्रशंसा का पात्र बनता है। उन्होंने लिखा है- 'इस दृष्टि से यदि हम देखें तो कबीर का 'ज्ञान पक्ष' तो रहस्य और गुह्य भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेमतत्त्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासना ग्रस्त हुआ, पर निर्गुण पंथ में अविकृत रहा। यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली; फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल में श्रृंगार की अधिकता को स्वीकारते हुए उसका मूल्याँकन किया। इसमें वे रीतिकाल के समस्त साहित्य को नकारते हुए नहीं दिखाई देते बल्कि उसमें विद्यमान विभिन्न धाराओं का वर्णन करते हैं। इस संबंध में आरंभ में ही वे वीर रस की कविताओं की कमी की ओर ध्यान दिलाते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि 'श्रृंगार वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचाया था। इसका कारण जनता की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।'

रीतिकाल की श्रृंगारिकता के पीछे मुस्लिम शासन की उपस्थिति को देखने का प्रयास भी हुआ। डॉ. श्याम सुंदर दास ने कहा कि 'मुसलमानों के राजत्वकाल में भारतवासियों पर उनका भी प्रभाव पड़ा। ....हम केवल अपनी काव्य-कला का निदर्शन करते हैं। उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जाएगा कि उसमें श्रृंगार रस का जो इतना आधिक्य है, वह बहुत कुछ उसी प्रभाव का फल है।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति के उदय में हिंदुओं की राजनीतिक पराजय को कारण माना था। बाद में, डॉ. नगेंद्र ने रीतिकाल के उदय के समय को घोर पतन का युग माना और उसकी सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि 'भारतीय इतिहास में यह घोर अधःपतन का युग था- मुसलमानों का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जर्जर हो गया था और हिंदू जीवन पराभव से जीर्ण था। भक्तियुग में हिंदुओं को केवल राजनीतिक पराभाव ही सहना पड़ा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिंताजनक नहीं थी।...हिंदुओं ने सब कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नहीं खोया था। परंतु रीतिकाल तक आते-आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था।' हालाँकि डॉ. नगेंद्र ने कृष्ण-भक्ति परंपरा के प्रभाव को भी स्वीकार किया है, लेकिन फारसी परंपरा के प्रभाव और उपर्युक्त हिंदू मानस का नैराश्य का वर्णन इस काव्य को पराजित मनोवृत्ति से जोड़ता प्रतीत होता है, जिसमें इस्लामी शासन की भूमिका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अधिक दिखाई देती है। इसलिए डॉ. नगेंद्र का यह निष्कर्ष उनके उपरोक्त तर्क का स्वाभाविक परिणाम लगता है कि 'घोर निराशा के उस युग में जीवन में किसी न

किसी प्रकार ये कवि रस संचार करते रहे, मैं समझता हूँ कि कम से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए।'

राष्ट्रीय चेतना के भावों प्रचार-प्रसार और राष्ट्र के बलवान (पौरूष-प्रधान) रूप को केंद्र में रखने कि प्रक्रिया में शृंगार के आधिक्य के साथ-साथ वीर रस की कविता पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल में आर्यधर्म की रक्षा का श्रेय तुलसीदास जी को दिया था। उन्होंने लिखा है -'भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्णधर्म, आश्रम धर्म, कुलाचार, वेद-विहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य करके आर्यधर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया।' यदि व्यावहारिक धरातल पर इस धर्म की रक्षा करने के लिए कोई उनका प्रशंसा पात्र बना है तो वे हैं रीतिकालीन कवि गुरु गोविंद सिंह। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'ये हिंदू भावों और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए बराबर युद्ध करते रहे। 'तिलक' और 'जनेऊ' की रक्षा के लिए इनकी तलवार सदा खुली रहती थी। यद्यपि सिख संप्रदाय की निर्गुण उपासना है पर सगुण स्वरूप के प्रति इन्होंने पूरी आस्था प्रकट की है और देवकथाओं की चर्चा बड़े भक्तिभाव से की है।' इसी प्रकार भूषण की कविता पर बात करते समय आचार्य शुक्ल उसके कथानकों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपनी वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय दमन में तत्पर हिंदू धर्म के संरक्षक दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे।' इसीलिए आचार्य शुक्ल भूषण के वर्णनों को झूठी खुशामद होने से बचाते हुए लिखते हैं -'शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णन को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। क्योंकि 'इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू जनता स्मरण करती है, उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू जाति के प्रतिनिध कवि हैं।' जबकि आचार्य शुक्ल उसी समय यह मानते हैं कि शिवाजी से पहले जिन राजाओं के आश्रय में भूषण थे, उनकी झूठी प्रशंसा भूषण ने की थी। यह एक प्रकार से शिवाजी छत्रसाल की प्रशंसा में कही गई कविता को विश्वसनीय बनाने की चेष्टा ही कही जा सकती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय शिवाजी के महत्त्व को स्वीकारे जाने का परिणाम ही था कि भूषण की कविता को राष्ट्रीय जागरण के साथ जोड़कर देखा गया। हिंदू राष्ट्र के साथ भारतीयता के जुड़ने का एक तर्क मिश्रबंधुओं के यहाँ इस रूप में आता है -'भूषण ने जातीयता का संदेश दिया और कहा भी उसे अच्छा। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है. हिंदूपन का विशेष। फिर भी कहना पड़ता है कि उस समय हिंदूपन का ही संदेश एक प्रकार से 'भारतीयता' का संदेश था क्योंकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे।' इस प्रकार मिश्रबंधु भी भारतीयता के सवाल को सही ढंग से उठाते हुए भी तत्कालीन चेतना के साथ संगति बैठा लेते हैं जहाँ 'भारतीयता' अंततः 'हिंदूपन' तक ही सीमित रह जाती है।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल संबंधी अनेक आरंभिक मूल्यांकन इस दृष्टि तक ही सीमित रह गए कि उसमें अश्लीलता, कामवासना, या शब्दों की खिलवाड़ अधिक है। बाद रीतिकाल पीआर विचार करते हुए डॉ. नगेंद्र ने उसके शृंगार के स्वरूप को 'र्गाहस्थिक' मानते हुए 'भारतीय शृंगार-परंपरा का ही स्वाभाविक विकास' माना। भारतीय परंपराओं के अन्वेषण की यह दृष्टि गौरतलब है। उन्होंने लिखा है कि 'इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही र्गाहस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीतिकाव्य भारतीय शृंगार परंपरा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर बाह्य्य प्रभाव बहुत कुछ पड़ा जरूर, लेकिन उसके मूल तत्त्व सर्वदा भारतीय ही रहे।' डॉ. नगेंद्र नारी के प्रति इस दृष्टिकोण को सामंती जरूर मानते हैं। लेकिन मात्र र्गाहस्थिक होने के 'भारतीय' भाव की पहचान उसके मूल्याँकन की दिशा को सही ढंग से स्पष्ट नहीं करती। र्गाहस्थिक होने या भारतीय होने मात्र से उसके किसी क्रांतिकारी स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'गृहस्थी में भी नारी केवल एक टाइप है, व्यक्ति नहीं।'

आचार्य शुक्ल भारतीय जनमानस की भांति यह नहीं मानते कि दुष्टता अथवा अत्याचार एक काल विशेष (कलियुग) से संबंधित है। आचार्य शुक्ल इसकी निरंतरता को ही ध्यान में रखते हैं- 'सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से रहते आए हैं और सदा रहेंगे।' इसीलिए आचार्य शुक्ल यह मानते हैं कि ऐसी दुष्ट प्रवृत्तियां भी संसार में विद्यमान

रहेंगी जिन्हें बिना हिंसात्मक उपायों के दबाया नहीं जा सकता। आचार्य शुक्ल संसार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हुए इसी दृष्टि से संसार को देखने व समझने का आग्रह करते हैं और 'लोकधर्म' के लिए दुष्टों का संहार करने को आचार्य शुक्ल सांसारिक दृष्टि से उचित मानते हैं। लोक और लोक की मर्यादा की रक्षा हेतु शुक्ल जी 'हिंसा' को गलत नहीं मानते। उन्होंने कहा- 'जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दें और उनके लिए कोई व्यवस्था न करें वह 'लोकधर्म' नहीं व्यक्तिगत साधना है।' दरअसल, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जनता में जिस 'लोकधर्मी' चेतना को देखते हैं और अत्याचारियों व दुष्टों के दमन के लिए जिस हिंसात्मक राह को अपनाने में भी उन्हें 'लोकधर्म' का पालन करना दिखाई देता है, उसका स्वरूप गतिशील होते हुए भी सीमित है। आचार्य शुक्ल 'क्रोध' में सुंदरता तभी पाते हैं जब वह किसी की रक्षा हेतु किया गया हो या लोकहित में किया गया हो। लेकिन उसे 'लोकधर्म' की अवधारणा के अन्य अर्थों से जोड़कर देखा जाए तो लोकरक्षा का यह पहलू भी उनकी परंपरा-प्रेमी दृष्टि का परिचायक हो जाता है। यही कारण है कि लोकरक्षा का स्थायी विधान ढूँढ़ते समय आचार्य शुक्ल अवतारों के माध्यम से उपदेशों की व्यर्थता पर प्रकाश ही नहीं डालते हैं, इससे आगे बढ़कर इस संबंध में 'क्षात्रधर्म' की अवधारणा प्रस्तुत कर देते हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं-'जनता के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला 'क्षात्रधर्म' है। 'क्षात्रधर्म' के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्रधर्म एकांतिक नहीं है। उसका संबंध लोकरक्षा से है। ... क्षात्रधर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार-युग उसे हटा नहीं सकता।' आगे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'क्षात्रधर्म' की अवधारणा की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कर देते हैं कि 'जिस प्रकार लोक मर्यादा का निरूपण ब्राह्मण धर्म है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा की रंक्षा 'क्षात्रधर्म' है।' आचार्य शुक्ल आर्यधर्म की वर्ण-व्यवस्था से इस धारणा को लेते हैं।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि शुक्ल जी की 'क्षात्रधर्म' की अवधारणा तत्कालीन राष्ट्रीय राजनीति और भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन से अधिक प्रेरित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकमान्य तिलक से बहुत अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। तिलक ने 'गीता रहस्य' नामक ग्रंथ में गीता की व्याख्या करते हुए उसे 'कर्मयोग-प्रधान' माना। यह पहले से उपलब्ध निवृत्ति-प्रधान व्याख्याओं को नकारना था। इस क्रम में ही लोकमान्य तिलक ने 'क्षात्रधर्म' की व्याख्या करते हुए इसे वर्तमान में भी आवश्यक बताया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्यिक इतिहास लेखन में 'क्षात्रधर्म' की अवधारणा विकसित करते समय तिलक से प्रभावित होते दिखाई देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, तिलक की अवधारणा को एक कदम और आगे बढ़ाते हुए उसमें 'कर्म-सौंदर्य' को भी जोड़ देते हैं। वे 'क्षात्रधर्म में कर्म-सौंदर्य के विविध रूपों को देखते हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा-'हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता समझते हैं।' राजनीतिक संदर्भों में 'क्षात्रधर्म' की अवधारणा दरअसल महात्मा गांधी के 'अहिंसा' के सिद्धांत की प्रतिगामी भी कही जा सकतीं है। महात्मा गांधी ने अहिंसा के आधार - सत्य खोजने की प्रक्रिया को 'धर्म' माना, साथ ही अपनी पूरी रणनीति का स्वरूप 'क्षत्रिय' शैली से भिन्न रूप में विकसित किया। उनकी भारतीयता की अवधारणा सबको (अपनी-अपनी धार्मिक विभिन्नता के बावजूद) शामिल करती थी। तिलक आदि पुनरुत्तानवादियों ने गांधी जी के अहिंसा के सिद्धांत पर हमला करते हुए वही तर्क दिया था जो शुक्ल जी देते हैं। उनके अनुसार अहिंसा 'आर्यधर्म' का तत्त्व नहीं है। यह उसकी 'संपूर्ण क्रियाशीलता' अथवा शक्ति को नष्ट कर देती है। कारवर पीठ के डॉ. कुर्ताकोटि ने १९२० में असहयोग में अहिंसा के प्रयोग के संदर्भ में कहा था कि यह अहिंसा का सिद्धांत हिंदूवाद तथा आर्यों के दर्शन की जड़ खोदता है। आगे उन्होंने कहा कि यह सिद्धांत जहाँ एक ओर हिंदुओं में 'आत्म-सम्मान' की कमी करेगा, वहीं दूसरी ओर मुसलमानों को बढ़ावा भी देगा। इसे इसाई धर्म का सिद्धांत मानकर विदेशी भी घोषित किया गया। इसी प्रकार के आरोप लाला लाजपतराय ने भी लगाए। वस्तुतः पुरुषत्व को शक्ति का मूल और राष्ट्रीय चेतना का अवश्यक उपकरण मानने वाली अवधारणा की दृष्टि में, अहिंसा का सिद्धान्त, 'स्त्रैण' बना देने वाली चेतना का निर्माण करने वाला सिद्धांत था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'लोकधर्म' की अवधारणा उनकी समस्त राजनीतिक-सामाजिक चिंताओं को ध्वनित करती है। वे युगीन प्रश्नों को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। इनमें राष्ट्र' की चिंता सर्वस्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक सशक्त राष्ट्र-निर्माण के विचार को साक्षात् करने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं। उनकी लोकधर्म की अवधारणा 'लोक-संचालन' और 'लोक-संगठन' के माध्यम से लोगों को एकीकृत कर राष्ट्र-निर्माण का एक सचेत प्रयास ***लगती है। आचार्य शुक्ल के यहाँ यह प्रक्रिया अतीत का सर्वाधिक सहारा प्राप्त करती है। लोकधर्म के माध्यम से आचार्य शुक्ल 'लोक संस्थापक' का रूप ग्रहण करते हुए राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में रवीन्द्रनाथ टैगोर, गांधी व प्रेमचंद से भिन्न धरातल पर खड़े दिखाई देते हैं। क्योंकि इन दोनों*** महानुभावों की राष्ट्र-निर्मिति की प्रक्रिया का स्वरूप आचार्य शुक्ल के राष्ट्र रूप से भिन्न दिखाई देता है।

संदर्भ-सूची

1.Gupta, Charu, Sexuality, Obscenity, community: Women, Muslims and the Hindu Public in Colonial India, Permanent Black, New Delhi, pp. ३०-८५

२.हंस (स्वदेशांक), अक्तूबर-नवंबर, सन-१९३२, पृ. ११

३.भारत यायावर (सं.), साहित्य-विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९५, पृ. ५३

4.Gupta, Charu, Sexuality, Obscenity, community: Women, Muslims and the Hindu Public in Colonial India, Permanent Black, New Delhi, pp.४७

५.गुप्त, मैथिलीशरण, भारत-भारती, साहित्य सदन, झाँसी, पृ. १३१

६.शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि. संवत २०५२, पृ. ३६

७.वही, पृ. १३३

८.दास, डॉ. श्यामसुंदर, साहित्यालोचन, इंडिया प्रेस (पब्लि.), प्रयाग, संवत २००४ पृ. ४३

९.डॉ. नगेंद्र, रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, १९७७, पृ. १६७

१०.वही, पृ. १७३

११.शुक्ल, रामचंद्र, गोस्वामी तुलसी दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि. संवत २०४९, पृ. १४

१२.शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि. संवत २०५२ पृ. १८३

१३.वही, पृ. १४१

१४.वही, पृ. १४१

१५.मिश्रबंधु, हिंदी नवरत्न, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, १९७२, पृ. ४३

१६.'डॉ. नगेंद्र, रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, १९७७, पृ. १६९

१७.द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य-उसका उद्भव और विकास, ,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९१, पृ. १८२

१८.शुक्ल, रामचंद्र, गोस्वामी तुलसीदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि? संवत २०४९, पृ. १५

१९वही

२०शुक्ल, रामचंद्र, चिंतामणि (भाग-१), इंडिया प्रेस, इलाहाबाद, १९८४ पृ. ४२

२१.वही, ४३

२२.ठाकुर, समीक्षा, रामचंद्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत और गीता रहस्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९३

२३शुक्ल, रामचंद्र चिंतामणि (भाग-२, सरस्वती मंदिर, वाराणसी, संवत २०१४ वि?, पृ. ४९

24.Anderson, Walter K. & Shridhar D. Damle, The Brotherhood in Saffron, Vistaar Publications, New Delhi, pp. २०

25.Gupta, Charu, pp. २३३

●●

छायावाद का अर्थ, अभिव्यंजना और स्वच्छंदतावादी विशेषताएं व प्रमुख स्तंभ (प्रसुमन) कवियों की कृतियों का संक्षिप्त परिचय

डा.रीता तिवारी

असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी
राजकीय महाविद्यालय, पतलोट,
नैनीताल उत्तराखंड
मोबाइल नंबर 9756267416
ईमेल आईडी ritatewari159@gmail.com

'छायावाद' शब्द के अर्थ को लेकर आलोचना-जगत में काफी भी विवाद रहा है। इसका कारण यह है, कि जहां यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद आदि ऐसे नाम हैं, जिनके आधार पर इन वादों के अंतर्गत स्वीकृत रचनाओं के बुनियादी स्वरूप को आसानी से समझा जा सकता है। वहीं 'छायावाद' शब्द किसी ऐसे स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं करता, जिसके आधार पर छायावादी काव्य की विशेषताओं को समझा जा सके। यह अर्थ छायावादी कवि के स्वरूप को समझने में सर्वथा असमर्थ है। इसलिए छायावाद के अर्थ को समझने के लिए हमें उन परिवर्तन को जानने का प्रयास करना चाहिए, जो छायावादी काव्य में पाई जाती हैं, जहां यथार्थवाद, प्रगतिवाद आदि काव्यधाराओं के विवेचन में यथार्थ प्रवृत्ति आदि के अर्थ की सहायता ली जाती है। वहीं 'छायावाद' के अर्थ पर समझने के लिए विपरीत दिशा में चलना होगा। नामवाचक शब्द के अर्थ काव्यगत विशेषताओं की ओर जाने के स्थान पर काव्य की विशेषताओं से नाम वाचक शब्द के अर्थ में निर्धारण का प्रयास करना होगा। 'छायावाद' के जो अर्थ प्रारंभ में निर्धारित किए गए हैं, उन्हें 'छाया' शब्द के अर्थ को समझाने की ही कोशिश की गयी। उदाहरणार्थ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसका संबंध अंग्रेजी के शब्द 'फैंटेमैस्टा' से जोड़ने का प्रयास किया। तो प्रसाद जी ने इसे 'विच्छति' या 'मोती की - सी तरलता' में संबद्ध किया। लेकिन आज इन मान्यताओं का केवल ऐतिहासिक महत्व है।

'छायावाद' के अर्थ - निर्धारण के संदर्भ में एक और विवाद भी सामने आया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे सीमीत अर्थ में शैली विशेष माना, जिसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, प्रतीक-विधान, विशेष-चमत्कार, विशेष विपर्यय, मानवीकरण, अन्योक्ति विधान पर बल रहता है। छायावाद के व्यापक अर्थ में उन्होंने रहस्यवाद को भी समाविष्ट किया। इधर प्रसाद जी ने छायावाद में स्वानुभूति की विवृति पर बल दिया। लेकिन आज छायावाद और रहस्यवाद दो स्वतंत्र वाद माने जाते हैं। 'छायावाद' में शैलीगत विशेषताओं के साथ-साथ प्रेम, सौंदर्य आदि भावनाओं को भी स्वीकार किया जाता है, जबकि अव्यक्त निराकार प्रिय के प्रति प्रणय-निवेदन को रहस्यवाद की मूल विशेषता माना जाता है।यद्यपि प्रसाद ने रहस्यवाद को अध्यात्मवाद और विशेषतः शैव दर्शन के साथ संबंद्ध करने का प्रयास किया, किन्तु उनकी वह व्याख्या सर्व

मान्य न हो सकी। जहां तक भाषा-शैली का प्रश्न है, छायावाद और रहस्यवाद में समानता पाई जाती है। किंतु विषय वस्तु की दृष्टि से दोनों में स्पष्ट अंतर है। रहस्यवादी भावना का आलंबन जहां अमूर्त निराकार ब्रह्म है, जो सर्वव्यापक है, जहां छायावाद का विषय लौकिक ही होता है।

छायावाद के विवेचन में प्रसंग में स्वच्छंदता प्रवृत्ति का उल्लेख मिलता है।आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने श्रीधर पाठक को आधुनिक काव्यधारा में स्वच्छंदतावाद की प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया है। हरिश्चंद्र के सहयोगियों का विधायकों को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढांचों में अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण और आदि में स्वच्छंदता के दर्शन ना हुए। इस प्रकार की स्वछंदता का आभास पहले-पहल पंडित श्रीधर पाठक ने ही दिया।उन्होंने प्रकृति की रूढ़िबद्ध रूपों तक न रह कर अपनी आंखों से भी उनके रूपों को देखा। 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने इस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्य पूर्ण संकेत किया। जिसके ताल सुर पर सारा विश्व नाच रहा है। इन सब बातों का विचार करने पर श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के प्रवर्तक ठहरते हैं। शुक्ल जी यह मानते हैं, कि 'गीतांजलि' की धूम मच जाने के कारण हिंदी के प्रवृत्ति कवि चित्रात्मक भाषा प्रतीकवाद की ओर आसक्त हुए। लेकिन यहां स्पष्ट है कि क्या अटूट धारा के रूप में स्वच्छंदतावाद का आरंभ श्रीधर पाठक से नहीं हुआ। शुक्ल जी स्वच्छंदतावाद का उल्लेख करते हुए पद्य के ढांचों, अभिव्यंजना ढंग, प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि की बात है। ये विशेषताएं परवर्ती छायावादी काव्य में सामने आयीं। छायावादी काव्य एक प्रधान लक्षण है। स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृक्ति, जो व्यक्तिगत प्रणय से ले कर करुणा और आनंद तक फैली हुई है।

छायावाद और रोमांटिसिज्म की समानता की ओर यद्यपि अनायास ही ध्यान आकर्षित हो जाता है। किंतु इन दोनों में बुनियादी अंतर है, अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य में पहला काव्य पर कई शताब्दियों पर कठोर अनुसंधान रहा था। इस अनुशासन का रूप धार्मिक भी था (जैसे अंधकार युग में) और नैतिक और काव्यशास्त्रीय भी था। (जैसे नव शास्त्रवादी युग में) अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों ने सब बंधनों का आग्रहपूर्वक तिरस्कार किया। लेकिन यहां छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी-युग में नैतिक दृष्टि से प्रधानता मिलती है। छायावाद में उसका विरोध भी दिखाई देता है। छायावादी कवि स्वच्छंदतावादी कम और पुनरुत्तानवादी अधिक था। छायावाद की प्रणयानुभूति पर रीतिकालीन श्रृंगार-चित्रण का काफी प्रभाव है। काव्यशास्त्री मूल्यों की दृष्टि से छायावाद प्राचीन सिद्धांतों विशेषकर रस सिद्धांत के अनुरूप है। और जहां तक दार्शनिक सिद्धांतों का संबंध है, छायावादी काव्य सर्ववाद, कर्म वाद, वेदांतवाद, शैव दर्शन, अद्वैतवाद, भक्ति आदि पुराने सिद्धांतों को ही व्यक्त करता दिखाई देता है।

छायावादी काव्य की अभिव्यंजना पद्धति भी नवीनता और ताजगी लिए हुए हैं। द्विवेदीकालीन खड़ीबोली और छायावादी खड़ी बोली में बहुत अंतर है। भाषा का विकास समग्र का काव्यचेतना के विकास का ही अंतरंग तत्व होता है। द्विवेदीयुगीन काव्य बहुमुखी था, इसलिए उसकी भाषा में स्थूलता वर्णनात्मकता अधिक थी।इसके विपरीत छायावादी काव्य में जीवन की सूक्ष्म निभृत स्थितियों को आकर प्राप्त हुआ। इसलिए उसकी शैली में उपचारवक्रता मिलती है। जो मानवीकरण आदि अनेक विशेषताओं के रूप में दिखाई देती है। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के विवाद के कारण भी छायावादी कवियों ने आगरा पूर्वक खड़ी बोली को अधिक सूक्ष्म चित्रात्मक वक्र बनाया। छायावादी कविता में प्रयुक्त खड़ी बोली के लिए यह विशेषताएं इस प्रकार हैं अधिक मौलिक और विलक्षण लगती है कि उन्हें द्विवेदी कालीन कविता में प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक खड़ी बोली की तुलना में देखा जा सकता है। अन्यथा घनानंद जैसी कवियों का ब्रज भाषा में ऐसी वक्रता और सूक्ष्मता का विकास बहुत पहले हो चुका था। किंतु छायावादी अभिव्यंजना निसंदेह अर्थ गाम्भीर्य के उस उत्कर्ष पहुँच जाती है। जिसके आगे जाने की संभावना भी नहीं रहती है। हां कोई चाहे तो

दिशा में अवश्य बदल सकता है।

महादेवी जी की 'दीपशिखा' की पंक्तियां :-

'झर चुके तारक-कुसुम जब,
रश्मियों में रजत-पल्लव,
संधि में आलोक-तम की
क्या नहीं नभ जानता तब,
पार से अज्ञात वासंती
दिवस-रथ चल चुका है।'[1]

इन पंक्तियों में अर्थ के तीन पक्षों का एक साथ निर्वाह किया गया है। यहां प्रतिपाद्य तो है, जीवन की साधना का वह अंतिम क्षण, इस लोकिक जीवन की समाप्ति के बाद इस लोकोकत्तर आन्नदमय चेतना का आभास होने लगता है। किन्तु इस अर्थ के लिए दोहरा अप्रस्तुत है। या इस तरह कह सकते हैं कि अप्रस्तुत दर अप्रस्तुत है। और एक अप्रस्तुत तो है प्रातः काल का; जब तारे तथा चंद्रमा किरणें धूमिल होने लगती है और बसंती प्रकाश वाले सूर्य का रथ क्षितिज की ओर से आता दिखाई देता है। तथा दूसरा अप्रस्तुत है, पतझर की समाप्ति की बेला, का जब कुसुम और पल्लवों के झर जाने के बाद बसंत के आगमन की सूचना मिलने लगती है। आलोक और तम की संधि के प्रयोग में मृत्यु के लिए हुआ है। नभ का चेतना के लिए।

छायावाद की अभिव्यक्ति निष्ठा और कल्पना प्रधान है। प्रसाद, निराला आदि कवियों ने अधिकतर अपने सुख-दुःख में अनुभूति को मुखर किया है। जिस प्रकार द्विवेदी युगीन कविता में सृष्टि की व्यापकता और अनेक रूपयता को समेटने का प्रयास किया है। उसी प्रकार छायावादी काव्य में मनोजगत की गहराई को वाणी में समेटने का प्रयत्न किया गया है। मनोजगत का सत्य सूक्ष्म होता है, और जिसे सर्जना द्वारा साकार करने के लिए छायावादी कवियों ने उर्वरक कल्पना शक्ति का उपयोग किया है। कल्पना का उपयोग अनुभूति की विविध पक्षों और प्रसंग की उद्‌भावना में भी किया गया है। और उन्हें व्यक्त करने वाले प्रतीकों तथा बिंदुओं की सर्जना में भी। इसलिए छायावादी अभिव्यंजना-पद्धति विशिष्ट और सांकेतिक हो गई है।

छायावादी कवियों के प्रधान रूप से प्रणय की अनुभूति को व्यक्त किया है। और उनकी कविताओं में प्रणय से संबंद्ध विविध मानसिक आवश्यकताओं का आशा, आकुलता, आवेग, तल्लीनता, निराशा, पीड़ा अतृप्ति, स्मृति विषाद आदि का है, अभिनव और मार्मिक चित्रण मिलता है। रीतिकाल काव्य में श्रृंगार को अभिव्यक्ति नायक-नायिका आदि के माध्यम से हुई है। किंतु छायावादी कवियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है। यहां को कवि और पाठक की चेतना के बीच में अनुभूति और अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की स्थिति नहीं है। स्वानूभूति को इस भॉति चित्रित किया गया है, कि सामान्य पाठक सहज ही उसमें तल्लीन हो जाता है। स्वुवाभूति के संप्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि कभी उसे निज संबंधों और प्रसंगों से मुक्त करके लोकमान्य अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करें। छायावादी कवि की प्रणयंभूति की अभिव्यक्ति भी इसी लोक सामान्य स्तर पर हुई है। छायावादी काव्य अनुभूति के स्तर पर मानव मात्र की एकता की स्थापना करने में समर्थ हुआ है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह इसका उद्देश्य था श्रृंगार परक रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस कवियों ने तो मूल रूप से स्वानुभूति में केंद्रित होकर ही सर्जना की है। यह दूसरी बात है की कल्पना के माध्यम से निजी अनुभूति का इस भॉति संस्कार लिया गया है, कि मानव मात्र की ह्रदय को तल्लीन करने में समर्थ हो सके। छायावादी काव्य के स्वरूप के संबंध में यह सहज स्वीकार किया जा सकता है कि उसमें कवि की अनुभूति के प्रधानता और अनुभूति कवि प्रतिभा द्वारा परिष्कृत होकर ऐसे सौंदर्यमय रूप में व्यक्त होती है। जो सभी सह्रदयों को अपने में सहसा आसक्त कर लेती है। छायावादी काव्य में अनुभूति की इस प्रधानता के कारण ही उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना गया है।

छायावादी काव्य की चेतना व्यक्तिनिष्ठ और सूक्ष्म होते हुए भी मूर्त उपकरणों द्वारा व्यंजित की गई है। जैसे कि हम मूर्त उपकरणों का उल्लेख करते हैं हमारा ध्यान छात्रवृत्ति चेतना की सौंदर्य-पक्ष की ओर आकर्षित करता है। जिस प्रकार 'प्रसाद' में 'संकल्पनात्मक अनुभूति' की व्याख्या करते हुए 'मूल चारूतव' की बात

की है उसी प्रकार महादेवी जी भी सत्य को काव्य का साध्य मानती है और सौन्दर्य को उसका साधन मानती है सौंदर्य के स्वरूप पर विचार करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रधान स्रोत प्रकृति है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि छायावादी कवियों ने मानव के सौंदर्य का चित्रण नहीं किया है।नारी के शारीरिक सौंदर्य के अनेक मोहक चित्र प्रणय की कविताओं में बिखरे हुए मिलते हैं। और यह सौंदर्य प्रत्यक्ष रूप से नायिका के रूप में वर्णन में भी दिखाई देता है। जैसे प्रसाद की कविता 'आंसू' तथा 'कामायनी' में प्रस्तुत किया गया है पंत कृत 'भावी पत्नी के प्रति में प्रेम' व्यक्त नायिका का सौंदर्य और परोक्ष तथा सांकेतिक रूप में भी लक्षित होता है। निराला की 'जूही की कली' में। इन कवियों के सौंदर्य भावना के ने प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को अनेक कोमल कठोर रूपों में सरकार किया है। प्रथम पक्ष के अंतर्गत प्रसाद की 'बीती विभावरी जागरी', निराला के 'संध्या सुंदरी', पंत की 'नौका-विहार' आदि कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है। जबकि कामायनी का प्रलय-वर्णन, निराला की 'बादल-राग' कविता तथा पंत के 'परिवर्तन' जैसे रचनाओं में प्रकृति के कठोर रूपों का चित्रण भी मिलता है। छायावादी काव्य में अनुभूति और सौंदर्य के स्तर पर प्राय मानव और प्रकृति के भावों और रूपों का तादाम्य दिखाई देता है।

छायावादी कविता अपने आरंभिक अवस्था में व्यक्तिनिष्ठ, अनुभूतिप्राण और सौंदर्यमयी रही है, किंतु बाद में जब कवियों की दृष्टि जीवन की अन्य प्रसंगों की ओर गई तो कवि व्यक्तिनिष्ठ परिधि में बाहर निकल आए हैं। और लेकिन अनुभूति और सौंदर्य की कल्पनामयी अभिव्यक्ति के कारण जीवन के वाह्य प्रसंगों को चित्रित करने वाली रचनाएं भी एक अपूर्व दीप्ति और शक्ति से अलंकृत हो गई हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'प्रलय की छाया' निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' और पंत के 'परिवर्तन' शीर्षक कवितों जीवन की मूर्तस्थूल आख्यानों और प्रसंगों को यह प्रकृति की परिवर्तनशीलता के तथ्य को चित्रित करती हुई तीव्र अनुभूति की अविच्छिन्न धारा के कारण सौन्दर्यमय सांकेतिक बिंब-विधान के कारण सहज छायावादी काव्य की मूल भावमूलक संवेदना से जुड़ जाती है। इस प्रकार छायावाद के अंतर्मुखी अनुभूति प्रधान मूल चेतना ने सृष्टि के वाह्य स्थूल पक्ष के चित्रण में नई स्फूर्ति का आवेश संचार किया।

इसमें संदेह नहीं कि छायावादी भावबोध स्वानूभूति और सौंदर्यप्रधान कल्पना ही द्वारा ही निर्मित हुआ है। किंतु छायावादी काव्य की अनुभूति केवल मन के स्तर पर ही नहीं रुक जाती है। अपितु वह और भी गहरी उतरती हुई आत्मा के लोक में संरक्षण करने लगती है। छायावादी कवि की दृष्टि अंतर्मुखी होती हुई पहले तो मन के स्तर पर संरक्षण करते दिखाई देती है, और किंतु वहां पर भी उसका पूर्ण परितोष नहीं होता है। और आत्मा तक पहुंच जाती है पहले तो छायावादी काव्य भाव के स्तर पर अंतः सृष्टि की एकता की स्थापना करता है, और फिर आध्यात्मिकता के स्तर पर इसी एक्य को मूल सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। प्रसाद की अनुभूति से दर्शन में परिणत होती चली जाती है। निराला अद्वैत और भक्ति के क्षेत्र में साधन करते दिखाई देते हैं। पंत की काव्य दृष्टि सृष्टि में व्याप्त मूल और अक्षर सत्य का उद्घाटन करती है। महादेवी निराकार सर्वव्यापक प्रिय की भावना को भी काव्य का प्राण मानती है। इस प्रकार छायावादी चेतना के अंतर्मुखी दृष्टि में सृष्टि का निषेध नहीं है। वरन् आध्यात्मिकता के स्तर पर सृष्टि के संग्रह स्वीकृति के साथ कर्मवाद से जुड़ जाती है। आधुनिक युग के पुनर्जागरण के आंदोलन ने आध्यात्मिक सत्य का जो रूप स्वीकार किया था। वह छायावादी संवेदना की अंतरंग मूल्य बन जा गया है। आध्यात्मिकता के सत्य को स्वीकार करते हुए लौकिक यथार्थ के स्थूल और व्यापक सत्य की स्वीकृति विचार की दृष्टि से छायावादी भावबोध की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसलिए यह काव्य निराशा और अकर्मण्यता के स्थान पर आशा, आत्मविश्वास और कर्मवाद की प्रखरता से युक्त है।

काव्य रूपों की दृष्टि से छायावादी काव्य अत्यंत समृद्ध है। और एक ओर तो इसमें गीतों और मुख्य छंदों की कविताओं की अधिकता है। और दूसरी और 'आंसू' एंव 'तुलसीदास' जैसे खंडकाव्य भी मिलते हैं। जैसे 'कामायनी' महाकाव्य में तो छायावादी संवेदना

अपनी समग्रता में मूर्तिमान दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त 'प्रलय की छाया' (प्रसाद) 'राम की शक्तिपूजा' (निराला) और परिवर्तन (पंत) जैसी लंबी कविताएं भी मिलती हैं जिसमें काव्य रूप की दृष्टि से किसी पारस्परिक ढांचे में नहीं रखा जा सकता है।

छायावादी कविः

छायावाद के प्रमुख स्तंभ कवि चार हैं। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा।

जयशंकर प्रसादः कविवर जयशंकर प्रसाद (१८९० से १९३७) का जन्म काशी के एक संपन्न घराने में हुआ था, जो 'सुंघनी साहू' नाम से प्रसिद्ध था। इन्होंने आठवीं कक्षा तक शिक्षा पाने क घर पर ही हिंदी उर्दू अंग्रेजी, संस्कृत सीखी। प्रारंभ में इन्होंने ब्रजभाषा में कविताएं लिखी, किंतु बाद में खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी काव्य-कृतियों मे भाषा, छंद, भाव आदि की दृष्टि से अनेकरूपता दिखाई देती है। कवि होने के साथ-साथ यह गंभीर चिंतक भी थे। कामायनी में इन्होंने यंत्र और तर्क पर आधारित समाज के चित्रण के साथ-साथ से दर्शन की अभिव्यक्ति भी है। इस प्रकार आधुनिक होते हुए भी प्रसाद सहज ही प्राचीन गरिमाशाली परंपरा से जुड़ जाते हैं। उनकी काव्य रचनाएं हैंः 'उर्वशी' (१९०९), 'वन मिलन' (१९०९), 'प्रेमराज्य' (१९०९), 'अयोध्या का उद्धार' (१९१०), 'शोकोउच्छवास' (१९१०) ,'वभ्रुवाहन' (१९११), 'कानन कुसुम '(१९१३), 'प्रेम पथिक' (१९१३), 'करुणालय' (१९१३), 'महाराणा का महत्व' (१९१४), 'झरना' (१९१८), 'आंसू' (१९२५), 'लहर' (१९३३) और 'कामायनी' (१९३५), 'प्रेम पथिक' की रचना पहले ब्रजभाषा में की गई थी, किंतु बाद में उन्हें उसे खड़ी बोली में रूपांतरित कर दिया गया। यह भी उल्लेखनीय है, कि 'कानन कुसुम' और 'झरना' के परवर्ती संस्करण में कवि ने कुछ नई कविताओं का समावेश किया, तथा 'आंसू' में चौसठ छंद जोड़ दिए स्पष्ट हैं। 'झरना' से पूर्व की सभी रचनाएं द्विवेदी युग के अंतर्गत लिखी गई थी। प्रसाद जी को आरंभिक शैली बहुत कुछ अयोध्या सिंह उपाध्याय की संस्कृतगर्भित शैली में मिलती-जुलती है; जो स्थल और बहिर्मुखी है। छायावादी प्रवृत्तियों के दर्शन सबसे पहले 'झरना' में होते हैं। इनकी अनेक कविताओं में कवि ने अंतर्मुखी कल्पना द्वारा सुख भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास किया है। बाह्य सौंदर्य का चित्रण करते हुए भी उन्होंने उसके सूक्ष्म और मानसिक पक्ष को व्यक्त करने की ओर ध्यान दिया है। 'आंसू' का आरंभ कवि की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति से हुआ है। 'इस करुणा कलित हृदय में, अब विकल्प रागनी बजती है, क्यों हाहाकार स्वरों में, वेदना असीम गरजती है?'[२]

इसके अंत में यह छंद दिया गया हैः

'सबका निचोड़ ले कर तुम, सुख से सुखी जीवन में, बरसों प्रभात हैं हिमकन-सा, आंसू इस विश्व सदन में।'[३]

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि के आरंभिक व्यक्तिगत वेदना को भूलकर अंत में 'आंसू' को विश्व-कल्याण की भावना के साथ संबंध कर दिया है। जिस प्रकार राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवियों ने स्वार्थ का निषेध कर समाज (भारतीय समाज) के कल्याण के भाव के प्रतिष्ठा दिखाई देती है। उसी प्रकार छायावादी कवि भी व्यक्तिगत वेदना से ऊपर उठकर करुणा एवं विश्व कल्याण की भावना की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। 'आंसू ' काव्य की आत्मिक और अंतिम मनोभूमि में इतना व्यवधान दिखाई देता है, कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसी मेधावी आलोचक ने उसे पर आपेक्ष करते हुए कहा कि 'कहने का तात्पर्य है, की वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि ना होने से सारी पुस्तक को कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता है।'[४]

किंतु ध्यान देने की बात यह है कि आंसू एक स्मृति काव्य है। कवि ने अतीत जीवन की अनुभूतियों को स्मृति के माध्यम से दर्द भरी अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है, कि आंसू की भाव भूमि स्थाई नहीं विकासशील है। उसमें कवि का अतीत (जो स्मृति पथ पर आता ही है) ही नहीं उसका वर्तमान भी संयुक्त है। इसलिए अंत तक आते-आते कभी अपने व्यक्ति जीवन के नैराश्य और अवसाद से ऊपर उठकर अपनी वेदना को करुणा के रूप में, विश्व-प्रेम के रूप में रूपांतरित कर देता है। इसका कारण यह स्पष्ट है- कि छायावादी

काव्य निराशावादी का भी नहीं है। वह मानव समाज के लिए कल्याण की कामना से अलंकृत है। इसलिए छायावादी कवियों की व्यक्तिगत निराशा ही करुणा और विश्व प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। जहां पहुंचकर कवि सारे संसार की वेदना को खुद स्वीकार करके विश्व जीवन को सुखमय बनाना चाहता है। इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि आंसू में प्रसाद की अनुभूति व्यक्तिगत निराशा के गर्त से निकलकर विश्व वेदना के साथ तादम्य में स्थापित करती हुई मानव - जीवन को सुखी बनाने के लिए आकुल उठती है।

'लहर' में प्रसाद की गीतकला का उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है। इन गीतों में कहीं तो प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन है, और कहीं प्रणय की तीव्र अनुभूति का, करुणा की अभिव्यक्ति है, तो कहीं रहस्यवादी संकेत दिखाई देते हैं। 'शेरसिंह का शास्त्रसमर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', और 'प्रलय की छाया' में कवि ने मुक्त छंद में ऐतिहासिक प्रसंगों की शक्तिशाली और मार्मिक अवधारणा की है। कल्पना को मनोरमता, भावुकता और भाषा शैली में प्रौढ़ता को इनकी रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है।

'कामायनी ' प्रसाद की अंतिम कृति है। इसके कथानक का आधार वह प्राचीन आख्यान है, जिसके अनुसार मनु के अतिरिक्त संपूर्ण देव जाती प्रलय शिकार हो जाती है। मनु तथा श्रद्धा का कामयानी के संयोग से मानव-सभ्यता का प्रवर्तन होता है। इसका कथानक बहुत संक्षिप्त है, लेकिन कभी नहीं इस में जीवन के अनेक पक्षों को समन्वित करके मानव-जीवन के लिए एक व्यापक आदर्श व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया है। 'कामायनी' के एक संदर्भ का संबंध मनु और श्रद्धा के व्यक्ति के जीवन और प्रणय के साथ इड़ा के चरित्र का एक अंश भी इस प्रसंग में संबंध है। प्रसाद में इन प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन में मनुष्य की अनुभूतियों, कामनाओं और आकांक्षाओं को अनेकरूपता का वर्णन किया है। यह कामायनी की चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। कवि ने मनु आदि के माध्यम से मानव मात्र के मनोजगत के विविध पक्षों का चित्रण 'चिंता', 'आशा', 'वासना', 'ईर्ष्या', 'संघर्ष', 'आनंद' आदि सर्गों में किया है।

'कामायनी' केवल मनु और आदि के व्यक्ति-जीवन के ऐतिहासिक कथा ही नहीं है, इन पात्रों की सांकेतिक व्यंजनाएं भी उसमें हैं। जिन्हें स्वयं कवि ने कमायानी की भूमिका में स्वीकार किया है। यह आख्यान इतना प्राचीन है, कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ को भी अभिव्यक्त करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा भी सरलता से लग जाता है। कवि की इस उक्ति के आधार पर कर्मों में रूपक तत्व के विषयक विवेचन का प्रयास भी किया जाता है, किंतु ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद ने रूपक शब्द का प्रयोग इतिहास के संदर्भ में किया है। कामायनी के संदर्भ में नहीं।

कामिनी के संदर्भ में तो कवि ने मनु आदि पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को यह प्रधान माना है। हां उनके सांकेतिक अर्थ को अभिव्यक्ति में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है इस दृष्टि से कामायनी की समग्रता में ही समासोक्ति का विधान लक्षित होता है।

'कामायनी' में बुद्धि बात के विरोध में हृदय तत्व की प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने शैव दर्शन के आनंदवाद को जीवन की पूर्ण उत्कर्ष का साधन माना है। जहां उन्होंने काम को मंगल मंडित श्रेय से माना है। वहां श्रद्धा के प्रेरणा से मनु को कामना के बंधनों से ऊपर उठकर सामान जैसे के आनंद की उपलब्धि में तत्पर दिखाया है। इसी क्रम में कवि ने सारस्वत प्रदेश की यंत्राश्रित सभ्यता के वर्णन में अपने समकालीन सामाजिक व्यवस्था की विषमता का चित्रण भी किया है। इस प्रकार 'कामायनी' को उन्होंने अपने परिवेश में संबंद्ध करने का प्रयास किया है, किंतु इस संदर्भ को लेकर इस कृति की आलोचना भी की गई है। अनेक विद्वानों का कहना है कि लोग मंगल की भावना को मुखरित करते हुए भी 'कामायनी' की चेतना मूलतः व्यक्तिवादी अध्यात्मवादी चेतना है, जो अपने युग के यथार्थ की

समस्याओं का यथार्थ के धरातल पर समाधान करने में असमर्थ रही है। वास्तव में किसी भी काव्य को सभी दृष्टियों से पूर्ण और आदर्श काव्य भी न तो माना गया है। और न ही संभवतः तो माना जा सकेगा। क्योंकि व्यक्ति और समाज के स्तर पर जीवन के विकास की संभावनों असम की और असीम है। इसलिए 'कामायनी' अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी-साहित्य एक गौरवशाली उपलब्धि है। कामायनी में जयशंकर प्रसाद का एक दृष्टांत देखने पर :

'सुख केवल सुख का वह संग्रह केंद्रीय भूत हुआ इतना छाया पाठ में नव तुषार का साधन मिलन होता जितना'[५]

प्रसाद जी ने मानवीकरण पर इस प्रकार कहा है:

'उच्च शैल शिखर पर हॅसती प्रकृति चंचल बाला
प्रबल हंसी बिखराती अपनी फैला मधुर उजाला'[६]

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला निराला जी (१८९७-१९६२) का जीवन चक्र जीवन अनेक अभाव एवं विपत्तियों से पीड़ित रहा, किंतु इन्होंने किसी भी व्यक्ति के सामने झुकना नहीं सीखा अभावों के तीव्र एवं मर्मांतक व्यवस्था को झेलते हुए भी साधना में तल्लीन रहे। निराला का मन और बुद्धि तो संघर्षों की अपेक्षा करते हुए, वह विचलित रहे, किंतु उनकी चेतना के भीतर जैसे कुछ टूट सा रहा था घुल रहा था। उनके जीवन के अंतिम वर्ष जहां उनकी चेतना के अथक अविचल संघर्ष की कहानी कहते हैं। वहीं उनके जीवन की विपत्तियां और व्यवस्थाओं की शक्ति को भी व्यंजित किया है। सन् (१९१६-१९५८) तक निराला निरंतर काव्य में तल्लीन रहे। उनकी छायावाद युगीन रचनाएं हैं- 'अनामिका' (१९२३), 'परिमल' (१९३०), 'गीतिका' (१९३६), 'तुलसीदास' (१९३८)। कुछ अर्से तक निराला ने 'मतवाला' और 'समन्वय' का संपादन भी किया।

निराला को केवल व्यक्ति के रूप में ही परिस्थितियों तथा तीव्र विरोध नहीं सहना पड़ा। वरन कवि के रूप में भी उनका प्रबल विरोध हुआ। इसका प्रधान कारण तो उनकी मौलिकता है।जो कवि के दिप्त अहंकार की साहित्यिक और अभिव्यक्ति है। सन् १९१६ में 'जूही की कली' का प्रकाशन उसे युग के साहित्यकारों के लिए एक चुनौती वर्ष बनकर सामने आया। उसमें व्यक्त प्रणय-केली के चित्र और मुक्त छंद का शक्तिशाली शिल्प दोनों ही तत्कालीन मान्यताओं से मेल नहीं खाते थे, किंतु निराला अपनी धुन के पक्के और फक्कड़ स्वभाव की व्यक्ति थे। इसलिए उन्होंने सब की उपेक्षा की और उनके काव्य में आरंभ से विविधता के दर्शन होते हैं। यह विविधता भाषागत भी करती है और भावगत है विचारगत है और शिल्पगत भी। उनके मुक्त छंद भी और माधुरी भाव से अनुप्राणित प्रणय गीत हैं और ओजपूर्ण रचनाओं भी। उसमें 'अधिवास' और 'पंचवटी'-प्रसंग जैसे दर्शन प्रधान रचनाएं भी हैं। और 'भिक्षुक' तथा 'विधवा' जैसी कविताएं भी, जिसमें यथार्थ का तीव्र दंश दिखाई देता है। निराला की एक ही समय की रचनाओं में दिखाई देने वाली यह अनेकरूपता समभवतः उनके अध्ययन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण संकेत है। अन्य कवियों की जैसे पंत की अनेक रूपता काल में विस्तृत साधना की विशेषता है। जैसे-जैसे यह युग बदलता है, कवि यथार्थ के नए स्तरों और आयाम के प्रति सजग होता चलता है, किंतु निराला अद्वैत दर्शन से भिखारी के जीवन तक फैले हुए युग सत्य के विविध स्तरों और आयाम को मानो एक साथ ही अपनी साधना में समेट लेना चाहते हैं। यह सूक्ष्म विवेचन का विषय है कि उनके जीवन में जो बिखराव आया उसे चेतना और शिल्प के उनके आरंभिक विखराव या विस्तार से कहां तक संबद्ध किया जा सकता है?

निराला की रचनाओं पर दर्शन का प्रत्यक्ष और गंभीर प्रभाव है। 'अधिवास', 'पंचवटी-प्रसंग', 'तुम और मैं' आदि रचनाओं में कवि ने दार्शनिक सत्य को रूपायित करने का प्रयास किया है। 'परिमल' और 'गीतिका' में प्रार्थना और वंदना के गीत भी मिलते हैं ;जो मध्यकालीन भक्ति परंपरा से जोड़े जा सकते हैं। आध्यात्मिकता के प्रतिनिष्ठा होने के कारण कवि में कभी-कभी रहस्यवादी भावना के दर्शन भी होते हैं। यह आध्यात्मिकता सहज ही कवि की सांस्कृतिक चेतना से संमन्वित हो जाती है। और निराला में भी पुनर्जागरण के प्रभाव के फल

स्वरुप प्राचीन भारतीय परंपरा के प्रतिनिष्ठा का भाव है और वह भी भारतीय संस्कृति के उन मूल्यों के संधान का प्रयास करते हैं ; जो वर्तमान जीवन की प्रेरणा दे सके।

'तुलसीदास' में कवि ने गोस्वामी तुलसीदास के माध्यम से भारतीय परंपरा के गौरवशाली मूल्य की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। इस खंडकाव्य में उन्होंने लोक में प्रचलित उस कथा को आधार बनाया जिसके अनुसार यह माना जा सकता है, कि जब तुलसीदास बिना बुलाए अपनी पत्नी रत्नावली से मिलने के लिए उसके नैहर पहुंच जाते हैं, तब उन्हें पत्नी ने फटकारा। जिसका प्रभाव यह हुआ कि तुलसीदास गृहस्थ जीवन को त्याग कर राम उपासना में लीन हो गए। काव्य के आरंभ में कवि ने मध्यकालीन भारत के पतित अवस्था का चित्रण क्या है। जिसका कारण है कि भारत पर विदेशी शासन की स्थापना इस संदर्भ में निराला ने जीवन की सभी पक्षों के विघटन और ह्रास का शक्तिशाली चित्रण किया। इस भूमिका के द्वारा उन्होंने नायक की सामाजिक परिवेश को अंकित किया, किंतु अभी तक तुलसीदास इस विषमता के प्रति सजग नहीं है। फिर वह अपने मित्रों के साथ घूमने के लिए चित्रकूट जाते हैं, और वहां प्रकृति की निर्मल सात्विक शोभा से उनका हृदय आंदोलित होता है। उधर रत्नावली के रूप का सम्मोहन तुलसीदास की चेतना को ग्रस लेता है; जो भी बिना बुलाये पत्नी से मिलने के लिए नैहर पहुंच जाते हैं। तो रत्नावली की धुधकार से उनकी चेतना मुक्त होती है। और राम राम उपासना में मन लग जाता है।

'राम की शक्ति पूजा' निराला की ही नहीं संपूर्ण छायावादी काव्य की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। इसमें कवि ने एक ऐतिहासिक प्रसंग के द्वारा धर्म और अधर्म के साथ शाश्वत संघर्ष का चित्रण किया है। राम धर्म के प्रतीक हैं और रावण अधर्म का। इस कविता में अधर्म का चित्रण एक प्रचंड शक्ति के रूप में हुआ है, जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुंठित होने लगता है। यह स्थिति एक ओर से कवि के व्यक्ति का जीवन की भयानक संघर्ष से संबद्ध हो जाती है। और दूसरी ओर युगीन यथार्थ की विकरालता को भी व्यंजित करती है। अंत में राम की शक्ति 'मौलिक कल्पना' करते हैं, उनकी आराधना करते हैं, और अधर्म के विनाश के लिए सक्षम होती है। शक्ति की उपासना में एक और तो परंपरागत सत्य की स्वीकृति पर संकेत निहित है, और दूसरी ओर मौलिक कल्पना इस बात पर बोल देती है कि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों का युगानुरूप संशोधन अनिवार्य है। इस कविता में विविध भावों एवं भाषा के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, जो कभी उनकी शक्ति के विविध पक्षों के अन्विति का परिणाम है।

निराला के अधिकांश रचनाओं की भाषा संस्कृत गर्भित है और उसमें समास की अधिकता है। पदों के प्रयोग में कवि ने गेयता का विशेष ध्यान रखा है, कहीं तो गेयता का गुण ही इतना प्रधान हो गया है कि अर्थ की संगति ही नहीं बैठ पाती। लेकिन प्रायः कवि समस्त पदावली के प्रयोग द्वारा ही उपयुक्त लय और अर्थ गाम्भीर्य की अभिव्यक्ति की है। 'राम की शक्ति' पूजा में राम-रावण युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता हैः

'प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि विषम-हूह, विच्छुरति वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित- लोचन- रावण- मदमोचन -महीयान।'[७]

कवि की भाषा-शैली का दूसरा रूप अत्यंत सरल और छोटे पदों की कुशल व्यवहार के रूप में दिखाई देता है। 'अनामिका' में संग्रहित रचना सच है कि यह पंक्तियां इस प्रकार हैं 'सच है'

'यह सच है!
बार-बार हार-हार मैं गया, खोजा जो हार क्षार में नया, उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है - यह सच है!'[८]

'राम की शक्ति पूजा' के रचना सन् १९३६ में हुई थी और 'सच है' कि रचना १९३५ में। इन उदाहरणों से स्पष्ट है की भाषा के विविध रूपों पर निराला को कैसा पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

'राम की शक्ति पूजा' में राम 'शक्ति' की जब उपासना करते हैं, तब वह रावण से विजय प्राप्त करते हैं। निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' में राम द्वारा 'शक्ति'

की आराधना करने पर जब दुर्गा देवी प्रकट होकर राम का हाथ थाम लेती है, और उन्हें साधुवाद देती है; तो इस पर कवि ने दुर्गा का जो रूप अंकित किया है। उसमें राम की आराधना प्रतिफल दिखाई देती है। इस प्रकार निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' में संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है।

सुमित्रानंदन पंत : कविवर पंत (१९०० से १९७०) का जन्म उत्तराखंड के जिला अल्मोड़ा के कौसानी ग्राम में हुआ था। जन्म के कुछ घंटे बाद ही मातृस्नेह से वंचित हो जाने के कारण अल्मोड़ा के प्राकृतिक सुषमा से इन्हें बचपन से ही अपनी ओर आकर्षित किया। और प्रकृति के उसे मनोरम वातावरण से उनके व्यक्तित्व पर गंभीर प्रभाव पड़ा। पंत में यथार्थ के विषम और दारूण रूप के भाव का कारण ही कुछ सीमा तक प्रकृति के उस प्रभाव को माना जा सकता है। उनके मन में प्रकृति के प्रति मोह पैदा हो गया था कि जीवन की नैसर्गिक व्यापकता अनेकरूपता में पूर्ण रूप से आसक्त न हो सके।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया, बाला, तेरे बाल -जाल में कैसे उलझा दूॅ लोचन?
छोड़ अभी से इस जग को।'[९]

इन पंक्तियों में सामान्य रूप से तो वह प्रतीत होता है कि कभी रमणी के सौंदर्य की अपेक्षा प्रकृति के सौंदर्य को अधिक महत्वपूर्ण मानता है, लेकिन रमणी के सौन्दर्य की यह उपेक्षा क्या जीवन की अपेक्षा के भाव में व्यंजित नहीं करती है? सच तो यह है की बाद की रचना में कवि ने प्रणय के महत्व को स्वीकार किया है। किंतु उपयुक्त पंक्तियों में रमणी सौन्दर्य के निषेध को प्रतीकात्मक अर्थ में करते में जीवन-सौन्दर्य की उपेक्षा के अर्थ को भी ग्रहण किया है।

पंत जी की पहली कविता 'गिरजे का घंटा' सन् १९१६ की रचना है। तब वह निरंतर काव्य साधना में तल्लीन थे। उनके आरंभिक काव्य ग्रंथ में 'उच्छ्वास' (१९२०), 'ग्रंथि' (१९२०), 'वीणा' (१९२७), 'पल्लव' (१९२८), 'गुंजन' (१९३२), वीणा की रचनाएं सन १९१८ - १९१९ तक लिखी गई। 'गुंजन' को उनका अंतिम छायावादी काव्य संग्रह कहा जा सकता है। इसके बाद की कविता-संकलन पहले प्रतिवाद चेतना से और फिर अरविंद-दर्शन से प्रभावित है।

पंत काव्य में विभिन्न प्रकृति के मनोरम रूपों का मधुर और सरस चित्रण मिलता है। 'आंसू की बालिका', 'पर्वत प्रदेश' में पावस आदि कविताओं में प्रकृति के मनोरम चित्र विद्यमान है। जिनमें कभी की जन्म भूमि के प्राकृतिक सौंदर्य का वैभव दिखाई देता है। किंतु 'बादल' और 'छाया' जैसे कविताओं में केवल एक अद्भुत विलक्षण कल्पना के ही दर्शन होते हैं। जिससे चमत्कार की अनुभूति होती है, और लेकिन किसी गंभीर भाव की नहीं। छाया को दमयंती के समान या 'रातिश्रांता ब्रजवनिता' के समान चित्रित करने के में कवि किसी गंभीर अनुभूति से प्रेरित नहीं प्रतित होता है। दूसरे ओर कवि पंत आदर्श प्रेमी है। उनकी अनेक कविता में प्रकृति प्रेम आदर्शवादी से संबद्ध रूप में मुखरीत है। 'वीणा' में कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं।

'कुमुद कला बन कलहासिनी। अमृत प्रकाशनी, नभवासिनी, तेरी आभा को पार कर रही माँ।
जग का तिमिर- त्रास हर दूँ--
नीरव रजनी में निर्भय।'[१०]

यहां कवि ने प्रकृति से चांदनी को आभा को पार कर जग की तिमिर त्रास को दूर करने के लिए आकांक्षा व्यक्त की है। कवि की आदर्शवादी भावना निरंतर प्रबल होती गई है। यह आदर्शवादी भावना ही 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में 'सर्ववाद' का रूप ग्रहण करती हुई अंत में अरविंद दर्शन की और उन्मुख हो गई। कवि तिमिर त्रास को को दूर करना तो चाहता है। किंतु प्रकृति प्रेम जो एक तरह से ठोस यथार्थ जीवन के प्रति आसक्ति की सीमा बन जाता है। त्यागना भी नहीं चाहता है। 'परिवर्तन', 'एक तारा', 'नौका-विहार' आदि कविताओं में जिस दार्शनिक सत्य को वाणी दी गई है, उसका आधार और साधना भी प्रकृति ही है। 'परिवर्तन' कविता में कवि की दार्शनिक चेतना उद्दीप्त दिखाई देती है, जो 'एक तारा' जैसी कविताओं में अधिक संयम और निखार के साथ व्यक्त हुई है। लेकिन कवि का यह दर्शन प्रेम उसे अनुभूति में विमुक्त नहीं करता है। वास्तव में बुद्धि और हृदय के विरोध की समस्या छायावाद युग

में कहीं इतनी गहराई से जुड़ी हुई है, कि उसे युग के सभी कवियों ने समन्वय की बात की है। पंत ने छायावादी कविताओं में तो इस आदर्श का निर्वाह विशेष सफलता के साथ किया। लेकिन परवर्ती रचनाओं में कवि सत्य को सजीव रूप में चित्रित करने का समर्थ रहा। यह सत्य को केवल चित्रोंपम रूप में प्रस्तुत कर सका है। जहां सत्य हृदय के रस से रूप में प्रस्तुत किया है।

उन्हें रस के अभिव्यक्ति दो स्तरों पर हुई है एक तो भाव जगत के क्षेत्र में प्रायः पुराण के स्तर पर रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हें रस के विभक्ति दो स्तरों पर हुई है एक तो भाव जगत के क्षेत्र में प्राय प्रणय के स्तर पर, जैसे उन में रस की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर हुई है। एक तो भाव जगत के क्षेत्र में प्रायः प्रणय के स्तर पर, जैसे 'मधुस्मृति' या 'भावी पत्नी के प्रति' कविताओं में और दूसरे विचार में दर्शन के स्तर पर 'परिवर्तन', 'एक तारा', 'नौका विहार', आदि कविताओं में कवि ने सत्य को ही सरस रूप में प्रस्तुत किया है। वैसे यह उल्लेखनीय है कि 'पंत' को सौन्दर्य-भावना और कल्पना का प्रसार प्रकृति जीवन के सुकुमार कवि के रूप में ही जाना जाता है। 'परिवर्तन' में प्रकृति की कठोर रूप का चित्रण अवश्य हुआ है, किंतु कविता के अंत में आते-आते कवि की भयानकता को मूल रूप में आनंदमय सत्य के साथ संबंद्ध करके देखने लगता है।

इस प्रकार से फिर अपनी परिचित भूमि पर सौंदर्य, आनंद को भी मूल रूप में आनंद में सत्य के साथ संबंद्ध करके देखने लगता है। इस प्रकार से फिर अपनी भूमि परआनंदमय सत्य के साथ संबंध करके देखने लगता है। प्रकृति के व्यक्त रूप में आसक्ति होने के कारण पंत काव्य में रहस्यवादी, भावनावद के रूप में मुखर नहीं हो पाई। 'मौन निमंत्रण' जैसी कविता अपवाद-स्वरूप ही है। यहां भी अरूप-अज्ञात सत्ता के प्रति विश्व में और जिज्ञासा का भाव मिलता है आसक्ति है या प्रणय का नहीं।

'पल्लव' की भूमिका में पंत ने भाषा, अलंकार, छंद, शब्द और भाव के सामंजस्य पर विचार व्यक्त किए हैं, जिसस स्पष्ट होता है। कवि भाषा के प्रयोग के संबंध कितना जागरुक है। 'पंत' की शैली प्रमुख विशेषताएं हैं। लाक्षणिक, वैचित्र्य, विशेष, विपयर्य, विरोध- चमत्कार, मानवीकरण, प्रतीक-विधान, अन्योक्ति-विधान आदि हैं। 'सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल, तड़प बन जाते हैं। गुंजार (मौन-निमंत्रण) का सौन्दर्य लाक्षणिक वैचित्र्य के कारण है। 'उषा का था उर में आवास' (आँसू की बालिका) में उषा का प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है।

'वीणा' में भावों और विचारों के सरलता स्पष्टता के अनुरूप शैली में प्राय प्रसाद गुण से युक्त है। किंतु 'ग्रंथि' में कभी भाषा के प्रति अधिक सजग हो उठा है। और सजगता भाषा के प्रभाव से अलंकार विधान के रूप में दिखाई देती है। 'पल्लव' तक आते-आते कवि की भाषा शब्द और अर्थ से अपूर्व एवं सूक्ष्म सामंन्जय रूप में व्यक्त हुई है।

'गुंजन' की कविता में यह सभी विशेषताएं हैं, किंतु यहां कवि अधिक संयत है। 'पल्लवन' की रचनाओं में भाषा के एक नए रूप की बाढ़ से दिखाई देती है। अनुभूति में जैसा प्रवाह और आवेग है, वैसा ही प्रभाव व आवेग भाषा में है। किंतु 'गुंजन' में कवि की व्यक्तित्व भी अधिक प्रौढ़ हो उठा है।

गुंजन के बाद भी पंत जी के अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई। उनकी मुक्तक कविताएं 'युगांत', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धुली', 'उत्तरा', 'रजत-शिखर', 'वाणी', 'पतझड़' आदि में संग्रहीत हैं। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'लोकायतन' महाकाव्य की रचना भी की है। उनके छायावादोत्तर काव्य को प्रवृत्ति की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग के अंतर्गत 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएं आती हैं। उनकी भाषा शैली और भाव-बोध प्रतिवादी चेतना से प्रभावित है। इन रचनाओं में कवि की भाषावक्रता, संकेतिकता आदि की छोड़ पर सरलता। इन रचनाओं में अनुभूति के स्थान पर विचार को अधिक महत्व मिला है।

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।'[११]

ग्राम्या के इन पंक्तियों में कवि अलंकरण की प्रवृत्ति का त्याग नहीं करता वरन कविता में विचार के संप्रेषण के महत्व को प्रतिष्ठित करते हुए उसे जन

जीवन में संबंद्ध करना चाहता है। पंत जी ने अध्यात्म का विरोध नहीं किया। अध्यात्मिक सत्य पर कवि की आस्था बनी हुई है।

'भूतवाद उस धरा-स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहां आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।'[१२]

यह पंक्तियां पंक्ति की प्रगतिशील चेतना के मूल स्वर को बड़े स्वरूप स्पष्ट रूप में व्यक्त करती है, भूतवाद और आत्म दर्शन का। इस समन्वय का सैद्धांतिक रूप क्या हो? कवि की इस प्रश्न का उत्तर मिलता है, अरविंद -दर्शन में, जिसकी अभिव्यक्ति 'ग्राम्या' के बाद के स्वर्गकाव्य हुई है।यहां उनकी शैली में फिर परिवर्तन आया है। इस नई शैली में छायावादी कविता को संकेतिकता और उपचार वक्रता के साथ ही 'युगवाणी' की भी बौद्धिकता भी समाविष्ट है। अनेक संदर्भ और स्थितियों के अंतर्गत अरविंद दर्शन को अभिव्यक्त किया है। कवि के वर्तमान जीवन के विषम संकट को व्यक्त करते हुए एक नए आदर्श भविष्य का चित्रण करता है।

महादेवी वर्मा : (१९०७-१९८७) महादेवी वर्मा का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ। इन्होंने आरंभिक शिक्षा घर पर ही ग्रहण की थी। इसके बाद उनकी शिक्षा विधिवत प्रयाग में हुई। जहां इन्होंने सन १९३३ में दर्शनशास्त्र में एम०ए० परीक्षा उत्तीर्ण की, और यह आरंभ में ब्रजभाषा में कविता लिखती थीं, बाद में खड़ी बोली में लिखने लगीं। शीघ्र ही इस क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यह एक कुशल चित्रकार भी थी। इसलिए उनकी कविताओं में चित्रों जैसी संरचना का आभास प्रायः मिला करता है। महादेवी जी का काव्य रचना काल प्रधान रूप में १९२४ से १९४२ तक है। छायावाद युग में इनके यह काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं; 'निहार' (१९३०), 'रश्मि' (१९३२), 'नीरज' '(१९३५), 'सांध्यगीत' (१९३६), 'यामा' (१९४०), 'निहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' के सभी गीतों का संग्रह है।

महादेवी जी की कविताओं में आरंभ से ही विस्मय, जिज्ञासा, व्यथा और आध्यात्मिकता के भाव मिलते हैं। यह भाव निरंतर अधिक प्रौढ और परिमार्जित होते गए हैं। किंतु उनमें वैसी अनेकरूपता नहीं मिलती है। जैसे निराला और पंत की में लक्षित होती है। प्रसाद के काव्य में अनुभूति की विचार निरंतर व्यापकता की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं, किंतु महादेवी के सभी गीतों में अनुभूति और विचार की धरातल पर एकांविति मिलती है। उनकी भावभूमि गीतिकाव्य के ही प्रयुक्त है। क्योंकि यह स्वारानुभूति प्रत्यक्ष विवृति करती हैं। उनके अनुसार गीत वही है जिसमें संयमित भवातिरेक की व्यंजना होती है। सुख-दुख की भावना वैसी अवस्था विशेष गीति शब्दों में स्वर साधना में प्रयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।

उसका गीत दूसरे ह्रदय में इस भाव में उद्गार करने में सफल होगा इसमें संदेह नहीं की महादेवी के गीत भाव प्रधान है, उनके विविध गीतों में व्यथा, पीड़ा, आशा अज्ञात प्रीतम के प्रति प्रणय-निवेदन और साधना के विभिन्न अनुभूतियों को स्वर मुखरित हुए हैं। उन्होंने अनुभूति को विचार से समन्वित करने का प्रयास किया है। अन्य छायावादी कवियों के समान में भी ह्रदय और बुद्धि के विरोध का निराकरण कर काव्य में दोनों ही अखंड स्थिति का समर्थन करती हैं।

महादेवी ने अज्ञात प्रीतम के प्रति प्रणय निवेदन किया है, किंतु उनके प्रणय दुखःप्रधान है कवि प्रिय के मिलन की कामना नहीं करती, क्योंकि मिलन में तो व्यक्तित्व का ही नाश हो जाता है।

'मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूं'[१३]

महादेवी का यह दुखःवाद निराशा या अकर्मण्यता का व्यंजक नहीं है। उनकी वेदना की तुलना प्रसाद के 'आंसू' काव्य के अंत में दिखाई देने वाली करुणा की अनुभूति से की जा सकती है। महादेवी ने दुख को केवल व्यक्ति का जीवन के संदर्भ में स्वीकार किया है। सामाजिक जीवन के प्रसंग महत्व हुए अथक और अमर साधना में विश्वास करती हैं। उन्हें अमरों के लोग की कामना नहीं है, वे तो मिटने के अधिकार को भी बनाए रखना चाहती हैं। अपने पीड़ा का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है 'अमृता उसमें मानती है मरण त्योहार'। उनका दुख भरा किसी सीमा का समाज कल्याण की भावना से संपर्क है। वे जब अपने जीवन की तुलना'।

'मैं नीर भरी दुख की बदली, विस्तृत नभ का

कोई कोना, मेरा ना कभी अपना होना। परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली।'[१४]

महादेवी वेदना की सामग्री है। उनकी विरहानुभूति लौकिक ना होकर अलौकिक अधिक है, इसलिए उसमें रहस्यवाद का समावेश हो गया विरह उनके जीवन का संगीत है और वे वेदना की निरंतर जलने वाली अग्नि में तप पर कुंदन की भांति अपनी आत्मा को पवित्र करती दिखाई पड़ती है।

महादेवी पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव केवल उनके लोक मंगलकारी विधायिनी पीड़ा की स्वीकृति तक ही सीमित है। जहां तक सत्य के परमार्थिक स्वरूप का संबंध है। वे उपनिषदों की परंपरा की ओर स्वीकार करती है। उन्होंने सर्ववादी को दर्शन की अपनाया है। फलस्वरूप इसकी आध्यात्मिक साधना और लोग साधना में विशेष विरोध नहीं है। उनके अनुसार सृष्टि उसे पर एक हसीन शक्ति को ही सौंदर्यमय अभिव्यक्ति है। इसलिए सृष्टि के प्रति प्रेम और उसे मूल शक्ति के प्रति प्रेम में समानता है।

'मैं कण-कण में ढाल रही अली, आंसू के मिस प्यार किसी का।'[१५]

महादेवी जी के काव्य में रहस्यानुभूति की प्रधानता है। कुछ आलोचक उन्हें मीरा की भांति माधुर्य भाव मूलक और कुछ उन्हें साधनामूलक, रहस्यवादी कवयित्री स्वीकार करते हैं।

डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने महादेवी की रहस्यानुभूति के चार भागों में विभक्त किया है। जो निम्न प्रकार है।

साधना मूलक रहस्य, भावना मूलक, माधुर्य भाव मूलक, मानवता मूलक रहस्यानुभूति।

दीपक एक आध्यात्मिक उपयोगिता है। आराधना का अनिवार्य उपकरण है, किंतु वही दीपक संसार के लिए प्रकाश फैलता है, जिसमें पथिक अपना मार्ग खोज पता है। महादेवी ने निर्गुण के प्रति विशेष प्रणय भाव को आयोजित किया है। उनकी वास्तविकता की को लेने तो यह प्रयास यही मतभेद व्यक्ति के आता है कि अनुभूतियां हैं और कहां तक।

वे अज्ञात सत्ता के साक्षात्कार के लिए सतत प्रयत्नशील महादेवी जी दीपक की तरह जलती रहती है, और दीपक के समान जल प्रभाव अपने प्रियतम को पाना चाहते हैं उनकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं

'मधुर मधुर मेरे दीपक जल, युग युग प्रतिदिन
प्रतिक्षण प्रतिपल।
प्रीतम का पथ आलोकित कर,'[१६]

महादेवी जी के जीवन में यह प्रणय भावना पूर्णतया व्याप्त है। वह अपने जीवन को विरह का जलजात मानती हुए कहती हैं -

'विरहा का जलजात जीवन, विरह का जलजात
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास।
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।'[१७]

महादेवी जी में प्रेम की वेदना की गहनता सर्वत्र विद्यमान है। वेदना उन्हें इतनी प्रिय थी कि वह वेदना का साथ भी नहीं छोड़ना चाहती थी। वेदना के माध्यम से उन्होंने सर्वशक्तिमान चेतनामय ईश्वर के दर्शन किए।

'मेरे बिखरे प्राणों में सारी करुणा धुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में अपना अस्तित्व मिटा दो।
पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूंढा तुममें ढूढूंगी पीड़ा।'[१८]

इस प्रकार महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यानुभूति और विरहानुभूति मुखर आती है। महादेवी जी वेदना की असीम कवयित्री मानी जाती है। महादेवी जी के हृदय में अपार करुणा दिखाई पड़ती है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा की छायावादी कवियों में अभिव्यंजनावादी, रहस्यानुभूति, और स्वच्छंदतावादी व प्रकृति के प्रति प्रेम और नारी प्रेम का उन्मुक्त काव्य की प्रवृत्ति दिखाई देती है। छायावादी कवि जहां कल्पनाशील थे, वही प्रकृति प्रेमी भी थे। वेदना और विरहानुभूति महादेवी वर्मा के काव्य में अधिक दिखाई देती है।

संदर्भ सूचीः

१- प्रेमी गंगा सहाय, छायावादी युगीन एवं छायावादोत्तर कविता, हरिश प्रकाशन मंदिर ,३०१ गोल्डन पैलेस,

अस्पताल मार्ग, आगरा २८२००३, २००६, संस्करण प्रथम,पृष्ठ १६।

२- प्रसाद जयशंकर, जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली, भाग-४ लोक भारती प्रकाशन, पहली मंजिल दरबारी बिल्डिंग महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद १, २०१०, संस्करण प्रथम, पृष्ठ, ३३०।

३- वही, पृष्ठ ३३२।

४- डॉ नागेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/ ३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, २००९, संस्करण तीसरा, पृष्ठ ५३१।

५- प्रेमी गंगा सहाय, छायावादी युगीन एवं छायावादोत्तर कविता, हरिश प्रकाशन मंदिर,३०१ गोल्डन पैलेस, अस्पताल मार्ग, आगरा २८२००३, २००६, प्रथम, पृष्ठ, ८।

६- वही, पृष्ठ ८।

७- वही, पृष्ठ ३०।

८- नागेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/ ३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, २००९, संस्करण तीसरा, पृष्ठ ५३५।

९- प्रेमी गंगा सहाय, छायावादोत्तर कविता, हरिश प्रकाशन मंदिर, ३०१ गोल्डन पैलेस, अस्पताल मार्ग, आगरा २८२००३, २००६, प्रथम, पृष्ठ, २१।

१०- वही, पृष्ठ १८।

११- वही, पृष्ठ २०।

१२- नागेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/ ३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, २००९, संस्करण तीसरा, पृष्ठ ५३७।

१३- तिवारी डॉ० अशोक, प्रतियोगिता साहित्य, साहित्य भवन ३/२०० बी तुलसी, सिनेमा के पास आगरा, मथुरा बायपास रोड, आगरा २८२००३, सं० तीसरा, पृष्ठ ९१।

१४- वही, पृष्ठ ९६।

१५- वही, पृष्ठ ९७।

१६- वही, पृष्ठ ९३।

१७- वही, पृष्ठ ९४।

१८- वही, पृष्ठ ९५।

●●

चंद्रबती रामायण उर्फ सीतायण : स्त्री-विमर्श की आदि-पुस्तिका

नीलिमा चौहान

एसोसियट प्रोफेसर,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

विजेन्द्र सिंह चौहान

एसोसियट प्रोफेसर,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

भारतीय साहित्य रामकथा की विराटता और राम-चरित्र के माहात्म्य का पूजक और पोषक रहा है। राम भारतीय समाज की केंद्रीय चेतना में अवस्थित हैं तथा सांस्कृतिक और पारम्परिक रूप से राम-कथा और चरित्र का पुनर्बलन किया जाता रहा है। भारतीय साहित्य की विभिन्न भाषाओं और काल में राम-कथा की पुनर्सर्जना की जाती रही है तथा इस कथा के अनगिनत रूपांतर, पाठांतर और वाचन हैं। इनमें परस्पर भिन्नता अध्ययन, शोध और आश्चर्य का विषय रही है वाल्मीकि कृत रामायण, महाभारत की रामकथा हो अथवा बौद्ध-जैन रामकथा सभी के केंद्र में राम का चरित्र, गुण और कर्म हैं। पुरुष केंद्रित और उसके आदर्श पर केंद्रित इस कथा की लम्बी रचना-परम्परा में जो एक पक्ष नितांत अदिष्ट और उपेक्षित रहा है वह है सीता व अन्य स्त्री-पात्रों का स्वतंत्र चरित्र-चित्रण। पुरुष चरित्र की विराटता को केंद्र बनाकर लिखे जा रहे पुराख्यानों का सिलसिला आधुनिक चेतना के आगमन से बाधित होना प्रारम्भ होता है। हिंदी साहित्य में यह परम्परा आधुनिक काल के प्रारम्भ में 'हिंदी साहित्य में उपेक्षित स्त्री पात्रों' पर दृष्टिपात करने से शुरु होती है और सीता, उर्मिला, यशोधरा जैसे पात्रों को अपनी-अपनी कथाओं के पुरुष पात्रों से स्वतंत्र व्यक्तित्व के तौर पर चित्रित करने का चलन शुरू होता है। समाज में स्त्री की अवस्थिति की पहचान से बहुत पहले साहित्य में स्त्री के अस्तित्व की पहचान का साहित्य जन्म लेने लगता है। भारतीय पुनर्जागरण काल इसी प्रवृत्ति के लिए जाना जाता है किंतु इस काल से भी बहुत पूर्व लगभग सोलहवीं शताब्दी में बंगला में इसकी शुरूआत हो चुकी थी बांग़्ला कवयित्री चंद्रबती द्वारा लिखी गई सीता केंद्रित रामायण से।

'चंद्रबती रामायण' बांग्ला की प्रथम कवयित्री चंद्रबती द्वारा लिखी गई। बांग्ला की प्रथम कवयित्री मानी जाने वाली चंद्रबती का जन्म वर्तमान बांग्लादेश के माइमानसिंह जिले में सोलहवीं शताबदी में हुआ था। 'चंद्रबती इज़ क्रेडेटिड विद बींग द फर्स्ट पोएट इन बांग्ला लैंग्वेज टू प्रेज़ेंट ए रीटेलिंग ऑफ द रामा सटोरी फ्रॉम द प्वांट ऑफ व्यू ऑफ सीता, द हीरोइन ऑफ वाल्मिकीज़ प्राइमरी एपिक, आइडोलाइज़्ड एज़ द मॉडल ऑफ मैरिटल ओबीडियंस एंड चैस्टिटी इन ऑल सब्सीक्वेंट टेलिंग्स'

वाल्मीकी रामकथा में चित्रित सीता भारतीय समाज की स्त्री के आदर्श की वाहक हैं। पवित्रता और पातिव्रत्य की धारक हैं। किंतु चंद्रबती की सीता इस आदर्श को लगभग निरस्त करते हुए रची गई है। चंद्रबती की इस रचना की श्रोता गैर आभिजात्य ग्रामीण समाज की स्त्रियां थीं। प्रथमतः यह रचना दिनेश चंद्रसेन द्वारा सम्पादित 'माईमानसिंह गीतिका' में संकलित हुई थी। यह संकलन माईमनसिंह के लोक मानस में अंकित

 ISSN: 2583 - 5750

लोक साहित्य को संकलित करने के उद्देश्य से प्रकाशित हुआ था। इस संकलन को बंगाल के साहित्यिक समाज की तवज्जो प्राप्त हुई पर तब भी तथाकथित साहित्यिक अनगढ़ता और अधूरेपन के कारण संकलन में प्रकाशित हुई 'चंद्रबती' को अनदेखा किया गया और उसे साहित्यिक महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। साधारण गीतात्मक शैली में हुई यह रचना साहित्यिक पैमानों पर कमतर होने की वजह से उपेक्षा के अंधकार में ही रही।

चंद्रबती की रामायण बंगाली अकादमिक बहसों से बहिष्कृत रहती रही परंतु पहली बार नबनीता देव सेन द्वारा इस रचना के अंग्रेज़ी अनुवाद और प्रकाशन के बाद यह कृति साहित्यिक जगत के ध्यानाकर्षण के दायरे में आई। 'रिटन इन ऑर्डर टू बी संग बिफोर द नॉन कोर्टली ऑडियंस, कॉमप्राइज़िंग मेंनली द वुमेन फोक्स ऑफ रूरल बंगाल, चंद्रबतीज़ रामायण प्रेज़ेंट्स ए हाइली इंटरेस्टिंग टेक ऑन द स्टोरी ऑफ राम। नॉट ओनली डज़ इट एड न्यू कैरेक्टर्स एंड सिचुएशंस इन ऑर्डर टू प्रोवाइड फ्रेश इंटर्प्रेटेशन्स ऑफ ऑलरेडी नोन ईवेंटस , बट इट ऑलसो एस्सिमिलेट वेरिअस एलीमेंट्स फ्रॉम एग्ज़िस्टिंग लोकल जोनरेज़'।

ज़ाहिर है कि जिस कृति की रचना साहित्यिक संस्कारों में अदीक्षीत स्त्री वर्ग के लिए हुई हो और साहित्यिक सराहना और मूल्यांकन जिस रचना का लक्ष्य ही न हो उसे साहित्यिक समाज की तवज्जो प्राप्त ही क्योंकर होगी।

पूर्वलिखित रामोपाख्यानों में राम केंद्रीय पात्र हैं और यह रामाख्यानक परम्परा पुरुष रचना-दृष्टि की वाहक है। राम चरित्र की महिमा की प्रश्नातीत स्थापना करना इसका मुख्य लक्ष्य प्रतीत होता है। उनके जन्म और जीवन के प्रसंग कथा का आधार बनते हैं। सीता की उपस्थिति उनके जीवन के लक्ष्यों की साधना के प्रति समर्पित है जबकि चंद्रबती की रामायण सीता के पक्ष को स्त्री की सम्वेदना से व्यक्त करती है। चंद्रबती रामायण सीता के जन्म, उनके नामकरण से प्रारम्भ होती है। मंगलाचरण की परम्परा का संक्षिप्त निर्वाह करते हुए कवियित्री देवताओं की बजाय देवियों का स्मरण करती हैं। दिलचस्प तथ्य यह उदघाटित होता है कि चंद्रबती रामायण के प्रारम्भ में चंद्रबती का परिचय और मंगलाचरण, जिसे बांग्ला में 'बनिता' कहा जाता है दिनेश चंद्र सेन ने चंद्रबती के अपने संस्करण से हटा दिया था। नबनीता देवसेन ने इसे अपने अनुवाद में पुनः शामिल किया।

चंद्रबती रामायण की सीता के जन्म की कथा अपने कलेवर और कल्पना में अत्यंत क्रांतिकारी है। इस अध्याय में कवियित्री ने रावण के अपार वैभव और शक्तियों का चित्रण किया है। इस वैभव विलास को रावण ने अपने छल, कपट और आसुरी बल से प्राप्त किया है। उसकी असीमित शक्तियों के कारण तेंतीस करोड़ देवी-देवता उसके दरबार में कांपते पैरों से उपस्थिति दर्ज कराते हैं। रावण का अहंकार इतना अधिक उत्पाती हो गया कि कर चुकाने में असमर्थ एकांतवासी निरीह योगियों से उनके वक्ष का रक्त एकत्र करके एक पात्र में जमा करता जाता है और मंदोदरी के पास सुरक्षित रख देता है। रावण अपनी पत्नी मंदोदरी को उपेक्षित करके स्वर्ग की अपसराओं के साथ रासलीला करता रहता है। रावण की इस विकराल विलासिता से व्यथित मंदोदरी पात्र में रखे इस रक्त का पान कर लेती है जो उसके शरीर पर गरल का-सा प्रभाव दिखाता है। फलस्वरूप उसकी देह नीली पड़ जाती है और कई माह बाद उसके गर्भ से एक अंडे का जन्म होता है। पुरोहित अध्ययन कर रावण को आगाह करते हैं कि इससे जन्म लेने वाली संतान लंका के अंत का कारक बनेगी तो रावण उस अंडे को नष्ट करने का आदेश देता है पर मंदोदरी के विलाप और अनुग्रह के पश्चात उस अंडे को एक स्वर्ण टोकरी में रखकर समुद्र में बहा देने की बात पर राजी हो जाता है। यही टोकरी जनकपुरी के एक मल्लाह को प्राप्त होती है और साथ ही उसकी पत्नी को यह स्वप्न आता है कि इस अण्डे को राजा जनक के सुपुर्द कर दिया जाए। कुछ समयोपरांत उस अंडे से सीता का जन्म होता है। सीता के जन्म के उपरांत राम के जन्म की कथा चित्रित की गई है किंतु यहां भी रचनाकार ने काल्पनिकता का सम्मिश्रण किया है। दशरथ के द्वारा दिये गए फल को खाकर रानियां चार पुत्रों को जन्म देती हैं जैसा कि वाल्मीकी रामायण में चित्रित है किंतु

यहां एक अन्य प्रसंग की कल्पना कवयित्री करती हैं। कैकेयी मंथरा दासी के उकसावे में आकर उस फल के बीज को चुराकर खा जाती है। इस कड़वे बीज को खाने से उससे एक पुत्री जन्म लेती है जिसका नाम कुकुया रखा गया है यही पुत्री राम को सीता की अग्नि परीक्षा लेने के लिए मतिभ्रष्ट करती है। इसके खल पात्र के जन्म के समय सूर्य का विलुप्त हो जाना और भरी दोपहर अंधकार हो जाना तथा लक्ष्मी के घर में अलक्ष्मी का जन्म लेना आदि संकेत देकर आगामी अनिष्ट की आहट के बारे में बताती हैं। लंका से वापसी के उपरांत सीता अपनी सखियों से वार्तालाप करते हुए अपने निजी अनुभवों को अभिव्यक्त करती हैं। वे अपने बाल्यकाल, राम की सहधर्मिणी के रूप में अपने अनुभवों, अपहृत स्त्री के रूप में अपनी त्रासदी तथा निर्वासन की स्थितियों का मार्मिक वर्णन करती हैं। घर वापसी के उपरांत उनकी गर्भावस्था, विश्वासघात, प्रसव और अपमान के बाद उनके धरती में प्रविष्ट हो जाने का विस्तृत वर्णन किया गया है।

लंका से वापसी के उपरांत राम के मणीरत्न जटित महल में सीता और राम सखियों के साथ शतरंज खेलते हुए दिखाये गये हैं। इसी प्रसंग में सीता खेल जीतने के ईनाम के तौर पर वनों की ओर जाने की इच्छा व्यक्त करती हैं और सीता के परित्याग की पृष्ठ्भूमि का विधान रच जाता है। चंद्रबती आह भरती हुई आने वाले अनिष्ट की ओर इशारा करती हैं। राम और सीता के पवित्र अगाध अलौकिक प्रेम सुख को वियोग और सीता को प्रताड़ना में बदल देने वाली स्वयं राम की बहन कुकुया है। चंद्रबती कहती हैं कि भोली और कोमलमना सीता के जीवन को विरह, अपमान और अंततः देह त्याग की ओर धकेलने वाली कुकुया सीता से रावण के विषय में आपत्तिजनक सवाल पूछ-पूछकर सीता का न केवल मानसिक उत्पीड़न करती है बल्कि सीता को ही सीताहरण की अनहोनी का दोषी करार देती हैं। सीता कुकुया के इस व्यवहार के लिए विरोध भी करती चित्रित की गई हैं। कुकुया राम को सीता की पवित्रता के प्रति आशंकाओं से भरती है। यहां कैकेयी पुत्री कुकुया के प्रति कवयित्री का व्यक्तिगत क्षोभ और क्रोध भी प्रकट होता है वे कुकुया को काली विषैली सांपिन, छिद्रान्वेषण करने वाली, गृहकलेश कराने वाली, षडयंत्रकारी स्त्री कहती हैं जिसकी दुर्बुद्धि अंततः राम-सीता के अनंत वियोग का कारण बनी। कुकुया ने तो विषैला तीर छोड़ दिया था किंतु राम-सा विराट विवेकी पुरुष सीता और अपने प्रेम की रक्षा न कर सका। इस पर नैराश्य और वेदना से भर चंद्रबती कहती हैं '

ए प्वाइज़न एरो हैड पियर्सड हिज़ हार्ट

एबाउट द टैरिबल डैवेस्टेशन सीता न्यू नथिंग एट ऑल

...

पेयिंग हीड्स टू अदर्स वड्र्स लीड्स टू योर ओन डिस्ट्रक्र्शन

चन्द्रबती सेज़, पुअर राम, यू हैव टोटली लॉस्ट यूर माइंड'

सीता के परित्याग की कथा में राम एक कमज़ोर मनुष्य प्रतीत होते हैं। वे लक्ष्मण से मीठी बातें करते हुए सीता को वन ले जाकर उन्हें परित्याग की सूचना देने का आदेश देते हैं। लक्ष्मण के द्वारा राम के आदेश से अवगत होने पर सीता की प्रतिक्रिया पाठक की चेतना को हतप्रभ करती है। यहां उनकी अपार दृढ़ चरित्रता और स्थिप्रज्ञता का उद्‌घाटन होता है और राम उनके समक्ष विवश कातर साधारण पुरुष प्रतीत होने लगते हैं। वे लक्ष्मण से कहती हैं 'बताओ मुझ दास के लिए रघुनाथ के क्या आदेश हैं'। लक्षमण के मुख से आदेश सुनकर न वे कोई विचार को आने देती हैं, न वे राम या उनके आदेश के प्रति कोई राय भी प्रकट करती हैं-

'सीता स्टूड स्टिल लाइक ए स्टैच्यु ऑफ गोल्ड

नॉट टियर्स इन हर आइज़, नो वड्र्स ऑन हर लिप्स'

ीता अपनी इस स्थिति को राम रावण युद्ध में वैधव्य और पुत्र-वियोग को झेलने वाली हज़ारों स्त्रियों के हृदय से निकले हुए अभिशाप के रूप में व्याख्यायित करती हैं-

'नो वन टू ब्लेम, ब्रदर लक्षमण, ईट्स माई डेस्टिनी'

... आइ शुड एक्सेप्ट माई डेस्टिनी विद बाउड हेड'

..आय डू नॉट वांट टू कॉज़ सफरिंग टू एनिवन एल्स अगेन'

इस दारुण और विकट समय में भी सीता स्थिरता, औदात्य और बहनापे का परिचय देते हुए लक्ष्मण से उर्मिला के दुख़ और विरह को मिटाने आग्रह करती हैं।

एक स्त्री एक पवित्र मनुष्य के प्रति हुए जघन्यतम सामाजिक पारिवारिक राजनैतिक अपराध के फलस्वरूप राम को विपत्तियों से घिरा और अयोध्या नगरी को पानी, अन्न और सुख-वैभव से विहीन चित्रित करते हुए चंद्रबती विधि के न्याय-चक्र की याद दिलाती हैं। राज्य के पुरोहित राम को अश्वमेघ यज्ञ की सलाह देते हैं किंतु जिसकी पूर्णता सीता की यज्ञ में उपस्थिति से ही सम्भव होगी।

यहां राम को अपने आदर्श की चिंता घेर लेती है। अपनी प्रजा और समाज की आलोचना और निंदा से भयभीत राम एक शर्त पर सीता को लाने को राज़ी होते हैं - सीता की पवित्रता और अपवित्रता के निर्धारण के लिए सीता की अग्नि परीक्षा। पहले राम द्वारा परित्याग और अब लव और कुश के जन्म के बाद सीता की अग्नि परीक्षा सीता को भाव विह्वल, आतंकित, त्रस्त या क्रोधित नहीं कर पाते। सीता कहती हैं-

'फायर कैन नॉट टच मी, चैस्ट वुमेन दैट आय एम

बट इफ आई एंटर द फायर टुडे, आई डु नॉट विश टु रिटर्न'

एक मर्यादा पुरुषोत्तम विराट पुरुष द्वारा सीता का परित्याग हमारी सामाजिक, पौराणिक, साहित्यिक, मिथकीय परम्परा की एक ऐसी फांस है जिसने हमारे सामूहिक अवचेतन पर गहरी जकड़ बनाये रखी है। यही कारण है कि अनगिनत भाषाओं में, अनेकों साहित्यिक शैलियों में और ढाई हज़ार वर्षों में रची गई रामकथा में सीता के परित्याग को लेकर भिन्न कथाएं और व्याख्याएं दिखाई देती हैं। यहां तक कि कतिपय रामायणों में सीता परित्याग की घटना है ही नहीं और कहीं सीता की जगह सीता की रजस्तमोमयी छाया के परित्याग चित्रित किया गया है। चंद्रबती का मकसद राम, सत्ता और पितृसत्ता का वह चेहरा चित्रित करना था जो अपने महान कलेवर में स्त्री विरोधी है। इसके लिए चंद्रबती ने सीता के जन्म और उनके परित्याग सम्बंधी घटनाओं में कई रामकथाओं का सम्मिश्रण और काल्पनिकता दोनों का ही प्रयोग किया है।

जिस समाज ने सीता का बहिष्कार किया सीता उस समाज को अपनी किसी भी प्रतिक्रिया के योग्य तक नहीं मानते हुये उस समाज को उसके हाल पर छोड़ देना चाहती हैं। सीता को व्यथित या क्रुद्ध या आतंकित न चित्रित कर चंद्रबती सीता के चरित्र की विराटता और समाज और उसकी महानता को अनावृत्त कर देती हैं। सीता की अग्निशैया कुकुया तैयार करती है और इस उत्साह में अग्नि का प्रवाह उसकी ओर ही हो जाता है और कुकुया स्वयं जलने लगती है। विलाप करती और मृत्यु से डरती हुई कुकुया को सीता अपने कर-कमलों से अग्नि से बचाती हैं। खल पात्र कुकुया के प्रति सीता के इस सहज बहनापे की भावना का चित्रण चंद्रबती को और अधिक उदात्त बनाता है। कुकुया का सीता के सामने ही जल जाना दिखाकर चंद्रबती एक स्त्री द्वारा अपने पर हुए अत्याचार के विरुद्ध न तो प्रतिहिंसा की बात कर सकती थीं न ही प्रतिकार की। चंद्रबती की यह स्थापना सिद्ध करती है कि वे जानती हैं कि स्त्री स्त्री की सहज शत्रु नहीं है बल्कि वे पितृसत्ता द्वारा इस्तेमाल की जाती हैं। सीता द्वारा कुकुया को बचाये जाने की प्रक्रिया में उनके हाथों के अग्नि में न जलने से अभिभूत जन-समूह का ह्रदय परिवर्तित हो जाता है किंतु सीता निरपेक्ष अटल भाव से अग्नि में प्रविष्ट हो होने के लिए अग्रसर होती हैं। इस अनिष्ट के साक्षी बने तीनों लोक भयातुर होकर चरमराने लगते हैं चंद्रबती यहां चित्रित करती हैं कि इस अनहोनी से व्यथित माता वासुमति अर्थात घरती माता प्रकट होकर सीता को अपने अंक में ले विलुप्त हो जाती हैं

'लेट किंग राम लिव हैपिली विद हिज़ किंग्डम एंड हिज़ सबजेक्ट्स

आइ शेल टेक सीता, माई डॉटर, बैक होम विद मी'

राम लक्ष्मण लव कुश और जनममूह के अपार

क्रंदन पर चंदबती स्वयं भी अश्रुपूरित होते हुए कहती हैं कि 'राम तुमने सीता को सदैव के लिए खो दिया है। यह किसी की गलती नहीं है। हमारे दुख और आंसू सब हमारे करमों का फल हैं। विधाता ही है जो यह सब रचता है।'

सब कुछ कहकर भी चंद्रबती अपने काव्य की परिणिति को आधात्मिकता के आवरण से ढक देती हैं और विधाता के सुपुर्द कर देती हैं। मानो चंद्रबती कहना चाहती हों कि समाज में स्त्री की यह नियति सदा से रही आई है और न जाने कब तक यही नियति बनी रहेगी। एक अकेली स्त्री एक अपने छोटे से जीवनकाल में स्त्री-दोहन और उत्पीड़न की लम्बी विकराल परम्परा को परिवर्तित नहीं कर सकती किन्तु समाज की स्त्रियों के प्रति क्रूरता को अनावृत्त तो कर ही सकती है। परम्परा और प्रेम में छली जाकर भी वह अपने अस्तित्व और दृष्टि को उद्बुद्ध किये हुए रह पाती हैं और अपनी सदयता नहीं खोती हैं। धरती और प्रकृति जैसा अपना उदात्त गुण मलिन होने नहीं देती। किंवदंती है कि विवाह से एक दिन पूर्व चंद्रबती के भावी पति ने उनसे विवाह से इंकार कर दिया था और आहत चंद्रबती ने अपने पिता के कहने पर आत्मसंधान हेतु इस कृति की रचना की। चंद्रबती स्त्री पुरुष के प्रेम का काव्य है। मदोदरी द्वारा बहाये गये अण्डे को प्राप्त करने वाले मल्लाह और स्त्री के प्रेम पर कवयित्री की काही हुई एक पंक्ति उनके सारे काव्य की पीड़ा को मानो उद्घाटित कर देती है। वे कहती हैं जिस घर की स्त्री पवित्र हो और पुरुष भी एकनिष्ठ और ईमानदार वह घर प्रेम और सुख से भरपूर होता है। रावण और राम जैसे प्रेमियों के राजकीय प्रेम की बेचारगी के आगे इस जोड़े का नैसर्गिक, भोला, सहज और अकुंठ प्रेम कितना उन्मुक्त और जीवंत दिखाई देता है। पुरुष की मर्यादा हो या अमर्यादा दोनों स्त्री के लिए किसी अर्थ की नहीं यदि पुरुष के प्रेम मे समर्पण सहजता का अभाव होता हो। प्रेम में स्त्री से इतना अधिक दाय रखवा लेने वाला समाज प्रेम और दाम्पत्य में स्त्री के लिए पुरुष से कुछ भी रखवाने की हिमायत या परवाह नहीं करता। चंद्रबती प्रेम की इस विडंबना की पीड़ा का संकेत अत्यंत शिष्ट तथा बेहद सघन तरीके से करती हैं।

महायुद्ध, महापुरुष के संघर्ष, सामाजिक फलक पर हुई न्याय-अन्याय की टकराहट, श्रृंगार-पौरुष-साहस की त्रयी महाकाव्यों की केंद्रीय चेतना होती है। जबकि इस कृति में कवयित्री के इसकी महिमा की उपेक्षा करते हुए परिपाटी को उलट ही दिया है। राम की उपलब्धियां, उनका जीवन-चक्र, उनके गुण-कथन, युद्ध-कौशल आदि के बजाय चंद्रबती सीता के जीवनानुभवों का चित्रण करते हुए सीता को एक जीवंत पात्र के रूप में स्थापित करती हैं। एक स्त्री के रूप में सीता के अंतरंग अनुभव और उनकी सामाजिक अभिव्यक्ति करती सीता अपनी अस्मिता को दर्ज कराती हैं। सीता के एकाकीपन, उनका आत्मालाप, उनके दुख और वेदना का चित्रण इस कृति को अनूठा आयाम देता है। सीता यहां कोई विद्रोहिणी नहीं वरन स्त्री के रूप में घटनाओं पर निजी अनुभूति को महत्त्व देने वाली पात्र हैं। जिन पक्षों पर सीता मुखर नहीं होतीं वहां कवयित्री मुखर हो उठती हैं जिससे सीता के माहात्म्य और गरिमा द्विगुनित होती है। इस कृति के गीत सामाजिक संरचना में स्त्री के समक्ष रख दी गई चुनौतियों, द्वंद्वों, अधिकारों की उपेक्षा और प्रश्नाकुलता विषयक हैं। इस समस्त कृति में राम की विराटता और उनका मर्यादा पुरुषोत्तम होना सवालों के घेरे में दिखाई देता है। चंद्रबती स्वयं कविता में आवाजाही करते हुए अपने पात्रों को सम्बोधित कर उन्हें चेतावनी, फटकारना, सहानुभूति देते हुए उन्हें प्रश्नों के घेरे में लाती हैं। इस कृति में दो स्पष्ट अभिव्यक्तियां हैं एक सीता का स्वर, पितृसत्ता के आगे जिसकी आत्मगौरवमयी अक्षुण अस्मिता है, दूसरा कवयित्री का अपना स्वर जो पितृसत्ता में दखल देता हुआ अपने समय और परिपाटी का साफ उल्लंघन करता है। महाकाव्यों की सम्वेदना का ताना-बना पितृसत्ता के आस-पास बुना जाता रहा है। सत-असत, न्याय-अन्याय, अंधकार-प्रकाश के युद्ध के कारक पुरुष और पितृसत्ता ही होते हैं। स्त्रियां जिस प्रकार इस सामाजिक संरचना में परिधि पर हैं उसी की तर्ज़ पर साहित्य में भी पुरुष की अनुगामिनी हैं। किंतु इस कृति में स्त्री की इस शाशवत स्थिति के प्रति असहजता दिखलाई देती है। समाज और साहित्य में एक अन्य उपेक्षित पात्र उर्मिला के प्रति भी इस रचना में संवेदनशीलता

प्रकट होती है। सीता का स्वर स्वकेंद्रित नहीं है बल्कि वह उर्मिला के लिए भी चिंताकुल दिखाई गई हैं।

चंद्रबती रामायण अपनी तरह का अनोखा स्त्री काव्य है। स्त्री दृष्टि से रचित काव्य है। एक सोलहवीं शताब्दी की साधारण परिवार की युवती द्वारा अपने समाज और समय का अतिक्रमण कर राम की विराटता को चुनौती देने वाली रचना करना विरल परिघटना है। एक पितृसत्तातमक समाज में साहित्यिक परिपाटी के विरुद्ध जाने का खतरा उठाने का यह रचनात्मक साहस इस कृति का देखने का नज़रिया परिवर्तित कर देता है। रचना की साहित्य के मानदंडों पर विवेचना करने से इतर इस कृति को स्त्री-साहित्य की पूर्वपीठिका की तरह देखा जाना चाहिए। लोक-स्मृति में गहन रूप से अंकित सीता माता के आदर्श को चुनौती देने के लिहाज से यह काव्य आधुनिक चेतना के आगमन से कितने पहले ही अपनी बनावट में आधुनिकतम है। यह रचना उस वेदना और दवाब को अभिव्यक्त करती है जो किसी समाज में स्त्री जाति के हिस्से में अटल रूप से नत्ती कर दिया जाता है और साहित्य समाज और संस्कृति मिलकर उस असामान्य स्थिति का साधारणीकरण करने का काम करते हैं। यह कृति स्त्री की इस अमानवीय स्थिति के प्रति एक गहरी अनदेखी को उजागर करने का बेहतरीन प्रयास प्रतीत होती है। परिवारिक,सामाजिक, सांस्कृतिक दबाव और साहित्यिक आलोचना के भय से उठकर सीता जैसे आदर्शतम पौराणिक पात्र के साथ इतना प्रयोगशील और क्रांतिकारी होना। मर्यादा पुरुष की विराटता के प्रति आस्था से भरे समाज को निराश करने वाला काव्य रचना एक सोलहवीं शताब्दी की कवयित्री द्वारा एक दुस्साहसिक कर्म है। इस पूरी रचना को इसी आलोक में देखा और मूल्याकिंत किया जाना चाहिए। यह कृति स्त्री विमर्श की एक अनोखी ज़मीन तैयार करती है। यदि इस रचना का पूर्वधारणा रहित पाठ किया जा सके तो निश्चित ही समस्त पितृसत्तात्मक सांस्कृतिक-साहित्यिक-वैचारिक विरासत को स्त्री-दृष्टि से पुनर्मूल्यांकित करने का विमर्श उत्पन्न हो सकेगा।

संदर्भ

तीन सौ रामायणें, संजीव कुमार, हिंदी समय पत्रिका, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का अभिक्रम

द नम्बर ऑफ रामयाणाज़ एंड द रेंज ऑफ देयर इंफ्लुंस इन साउथ एंड साउथीस्ट एशिया ओवर द पास्ट ट्वंटी फाइव हंड्रेड ईयर्स ओर मोर आर एस्ट्रॉनिशिंग। जस्ट ए लिस्ट ऑफ लैंग्वेजिज़ इन विच द रामायण स्टोरी इज़ फाउंड मेक्स वन गैस्प 'थ्री हंड्रेड रामायणाज़, ए के रामानुजम'

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायण, भूमिका

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायण, भूमिका

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायण, भूमिका

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायण, पृष्ठ १

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायणा, पृ ७१

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायणा, पृ७९

नबनीता देवसेन, चंद्रबतीज़ रामायणा, पृ ८०

नबनीता देवसेन, चंड्रबतीज़ रामायणा, पृ. ९३

फादर कामिल बुल्के, रामकथा पृ. ५६९

नबनीता देवसेन, चंदबतीज़ रामायाणा, पृ. १३०

नबनीता देवसेन, चंदबतीज़ रामायाणा, पृ. १३०

●●

संस्कार : मानवीय द्वंद्व की महागाथा

संजीव कुमार मिश्र

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
श्री मुरली मनोहर टाउन पी.जी.कॉलेज, बलिया
मोबाइल नंबर-९४७३७२८३१४
ईमेल-sanjeevmishratdc@gmail.com

शोध-सार:- भारतीय साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर एवं भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित यशस्वी साहित्यकार उडुपी राजगोपालाचार्य अनंतमूर्ति अपनी विलक्षण साहित्यिक मेधा के कारण संपूर्ण भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं। कन्नड़ साहित्य की सुदीर्घ साहित्यिक परंपरा को आधुनिकता का आवरण पहनाने वालों में अनंतमूर्ति अग्रणी रहे हैं। अनंतमूर्ति की साहित्यिक यात्रा एक विद्रोही युवा से आरंभ होकर जड़ हो चुके पारंपरिक रूढ़ियों से मुक्त मानवतावादी लेखक तक की महान रचनात्मक यात्रा है। इस बात से शायद ही किसी को इनकार होगा कि अनंतमूर्ति ने नवाधुनिक संदर्भों के बीच विचार और जीवन को जितना गहरा अपनी रचनाओं में बुना है, वह दुर्लभ है। डॉ. अनंतमूर्ति अपने पहले कहानी संग्रह 'प्रश्न' से चर्चा में आ चुके थे, पर उन्हें विशेष ख्याति मिली 'संस्कार' से, यह उपन्यास मूल रूप से कन्नड़ में लिखा गया। इस युगांतरकारी उपन्यास को डॉ. अनंतमूर्ति ने फेलोशिप के दौरान इंग्लैंड में रहते हुए पूरा किया था। १९६५ में प्रकाशित इस उपन्यास में रूढ़ होती मान्यताओं में पिसते जीवन की छटपटाहट का आख्यान तो है ही, साथ-साथ इससे मुक्त होने का सुझाव व मार्ग भी है। इस दृष्टि से इस उपन्यास का पाठ जरूरी जान पड़ता है।

बीज शब्द:- संस्कार, मानवतावाद, आधुनिकता, परम्परा, अनंतमूर्ति, नैतिकता, अंतर्विरोध, नारणप्पा।

मूल आलेख:- संस्कार उपन्यास उडुपि राजगोपालाचार्य अनन्तमूर्ति का बहुचर्चित उपन्यास है और कई मायनों में विवादित भी। सत्तर के दशक में यह उपन्यास अपने प्रकाशन (१९६५ ई०) के साथ हीं विस्तृत चर्चा का विषय बन गया। इसकी लोकचर्चिता को देख कर निर्देशक पट्टाभिरामा रेड्डी ने इस पर एक फ़िल्म भी बनाई लेकिन इस फिल्म को लेकर विवाद ने बड़ा रूप धारण कर लिया। इसके बावजूद यह फिल्म लोगों की जिज्ञासा का केंद्र बनी और खूब देखी गई। जिसका परिणाम यह हुआ कि इस उपन्यास की ओर लोगों का रुझान कहीं और अधिक बढ़ गया। यह उपन्यास भारतीय साहित्य के साथ ही यह विश्व साहित्य में भी जबरदस्त आकर्षण का केंद्र बना और कई भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए।

शीर्षक किसी भी रचनाकार का पहला और प्रमुख औजार होता है जिससे वो अपनी रचना को अंजाम देता है। शीर्षक का निर्धारण वो बेहद सोच-समझकर करता है। शीर्षक उसे विषयांतर और भटकाव से बचा कर उसके अभिप्रेत पर केंद्रित रखने का काम करते हैं। इसका निर्धारण रचना के पूर्व और पश्चात दोनों स्थितियों में होता है। इनका आकर्षक होना ज़रूरी है। अनन्तमूर्ति एक मंझे हुए रचनाकार हैं। उन्होंने अपने

इस उपन्यास का नाम 'संस्कार' रखा। जो सम् और कार के योग से बना है, सम्यक और करना (क्रिया)। हिन्दू धर्मादि के क्षेत्र में सोलह संस्कारों (धार्मिक कर्मकांडो) को स्थान दिया गया है और सामान्य रूप में संस्कार वह प्रक्रिया है जो किसी को सुसंस्कृत कर समाज के अनुकूल बनाती है। अनन्तमूर्ति दक्षिण भारतीय वैदिक ब्राह्मण परिवार से थे। संस्कार का अर्थ उन्होंने व्यापक रूप में लेकर इस उपन्यास का नामकरण किया। शीर्षक कथानक की शुरुआत में नारणप्पा के मृत्यु से उसके अंतिम संस्कार की समस्या के सामान्य अर्थ से प्रारम्भ होकर अंत में प्राणेशाचार्य के व्यक्तित्वान्तरण के साथ अपने व्यापकत्व को प्राप्त होता है।इस तरह अनन्तमूर्ति संस्कार के सभी पक्षों को समेटते हुए उसके व्यापक अर्थ को शीर्षक रूप में ग्रहण करते है। यह शब्द अपने आप में बेहद आकर्षक है। इस मायने में यह उपन्यास पहले ही अपनी सार्थकता सिद्ध करता है। साथ ही यह उपन्यास मानवता की अप्रतिम गाथा रचता है। विनोद तिवारी लिखते हैं ''यू.आर. अनंतमूर्ति की समूची रचनात्मक प्रक्रिया में धर्म, जाति, लिंग, भाषा आदि के आधार पर बनाई गई सामाजिक रूढ़ियों और असमानताओं के विरुद्ध एक विद्रोही मानवतावादी लेखक की रचनात्मक प्रक्रिया मिलती है। लोहियावादी लोकतांत्रिक-सामाजिक विचारों, मानवतावादी सिद्धान्तों, वास्तविक व तार्किक सांस्कृतिक मूल्यों पर अडिग रहने वाले वे एक ऐसे बेबाक और मुखर छवि वाले रचनाकार थे जिनकी आवाज़ में कभी भी हकलाहट नहीं सुनाई पड़ी।''[१]

इस उपन्यास के कथानक की बात करें तो इसका आरम्भ नारणप्पा के संस्कार उपेक्षित शव के साथ बेहद गहमा-गहमी के बीच शुरू होता है। उसके शवदाह और संस्कार की समस्या के साथ फ्लैशबैक में रचनाकार नारणप्पा और प्रणेशाचार्य तथा अग्रहार के ब्राह्मणों के परस्पर द्वन्द्व को दिखाता है। मध्य बिंदु वहां आती है जहाँ ब्राह्मण शिरोमणि प्रणेशाचार्य चन्द्री जो नीच जाति की होने के साथ अब विधवा भी है के साथ सम्भोग करते हैं। चरम बिंदु वहाँ दिखाई देती है जहाँ वह चन्द्री को पुनः पाना चाहते हैं, पद्मावती को देख मोहित होकर उससे सम्बन्ध बनाने की कल्पना से अपने वासना जगत में चिंघाड़ उठते हैं। वह हर एक कृत्य करते हैं जो उनके धर्म के विरोध में हैं। अंतिम बिंदु उनके नाना कृत्यों की यथार्थ स्वीकारोक्ति के साथ पुनः दुर्वासापुर की ओर प्रस्थान से समाप्त होता है। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र नारणप्पा ब्राह्मण होते हुए भी 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' वाला जीवन जीता है। वह सामाजिक बन्धनों के अतिवाद पर निरंतर चोट करता है इससे सभी अग्रहार के ब्राह्मण बौखला जाते हैं और उस पर हमलावर हुए जाते है। परंतु इन हमलों का नारणपा वैचारिक दृढ़ता के साथ माकूल जबाब देता है। अग्रहार के सभी ब्राह्मण ही उसके सबसे प्रमुख शत्रु है। नारणप्पा जीवन के समस्त निषेधों का अतिक्रमण करके वास्तविक एवं सहजता के साथ जीवन जीने का हिमायत करता है। वह कहता है 'गरूड़, लक्ष्मण ,दुर्गाभट्ट,-----हा-हा-हा----ये ब्राह्मण हैं? यदि मैं ब्राह्मण बना रहता तो आपके गरुणाचार्य अब तक मुझे आचमन के साथ लील चुके होते। और जायदाद के लालच से गंदगी में पड़े सिक्के को जीभ से चाटकर उठा लेने वाला वह लक्ष्मण! वह अपनी एक और कंकाल-सी साली मेरे गले मढ़ चुका होता'[२]

नारणप्पा इस उपन्यास में जड़ हो चुकी मान्यताओं के विपक्ष में खड़ा है, जो किसी भी प्रकार से मनुष्य के अस्तित्व की बनावट उसके बाहर देखती है। नारणप्पा आधुनिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाई देता है। वह उस प्रत्येक विषय को व्यर्थ मानता है,जो मनुष्य को कार्य करने से अलग करता है। चन्द्री जैसी वेश्या को धर्मपत्नी जैसा प्रेम यह नारणप्पा के जीवन का सबसे बड़ा निर्णय था। मुसलमानों के साथ सद्भाव के साथ रहना, मांस भक्षण करना, मंदिरों के प्रति घोर अनास्था जाहिर करना, रूढ़िवादिता के विरुद्ध ऐसा कड़ा रुख दुर्लभ है। उसके व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए लक्ष्मणाचार्य कहते हैं 'मेरी पत्नी के मामा का बेटा था वह। जहाँ तक हो सका, अपना समझकर हम उसके किए-धरे पर परदा डालते रहे। चलो भाई यह भी छोड़ दें। और उसने क्या नहीं नहीं किया? सबके सामने नदी पर आकर परम्परा से पूजे जाने वाले शालिग्राम

को पानी में फेंककर थूक दिया। खैर इसे भी जाने दीजिए। कहें तो---- हम लोगों की आंखों के सामने मुसलमानों को घर में बुलाकर अपेय पान और अभक्ष्य भोजन करना क्या? भाई-भाई कहते हुए कभी हित की बात कहने के लिए हम उसके पास जाते तो वह गंदी गालियां बकता था। वह जब तक जीवित रहा, हम लोग उससे भयभीत ही रहे।'[३]

किसी भी रचना को हम उसके रचनाकार से अलग रखकर सही-सही नहीं समझ सकते। उसके मूल को नहीं पकड़ सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि रचना के साथ उसके कर्ता को भी समझा जाए। आख़िर ऐसी कौन-सी स्थिति-परिस्थिति थी, ऐसा क्या अनुभव रचनाकार ने अपने समाज से ग्रहण किया था जिसके आधार पर उसकी मानसिक बुनावट हुई थी। जिसके प्रतिफलन में यह उपन्यास आया। अनन्तमूर्ति दक्षिण भारत के एक वैदिक ब्राह्मण परिवार से आते हैं। बाल्यकाल से उन्होंने अपने परिवार और ब्राह्मण समाज के नियमों और संस्कारों के अंतर्गत ही अध्ययन-अध्यापन किया, उसके अनुरूप आचरण किया। लेकिन उनके बालक मन में एक गहरी जिज्ञासा बनी रही जो उन्हें सहज मनुष्य के यथार्थ जीवन की ओर ले जा सके। उन्हें ईश्वर और उसकी कृपा की प्राप्ति के लिए बनाए गए धर्म, नियम और मूल्य के प्रति सदैव सन्देह रहा। ऊपर से उस धर्म में बनाये गये कर्मकाण्ड जो बेहद जटिल हैं, परिवर्तनशीलता और गतिशीलता का उनमें व्यापक अभाव है। जो समय की मांग पर खरे नहीं उतरते। जो रूढ़ी का रूप लेकर समाज और व्यक्ति के विकास को बाधित कर रहे हैं। अब अनन्तमूर्ति जैसा बालक इन सब से, अपने इस ब्राह्मणिक व्यवस्था से, नियमों और उसके मूल्यों की परिधि से ख़ुद को बाहर ले जाना चाहता है, ख़ुद को ब्राह्मण विशेष से अलग कर सहज प्राकृतिक मनुष्य बनना चाहता है। बालक अनन्तमूर्ति प्रयोग करना चाहता है, वह सब कुछ करके देखना चाहता है कि जो उसे सिखाया और समझाया गया उसके इतर जाकर क्या होता है और क्या हो सकता है। इसके बाद वह गांव के पवित्र पीपल के वृक्ष के नीचे रखे विशेष पत्तर पर छुपकर पेशाब करता है, नीच स्त्री के साथ सम्बन्ध बनाता है और लगभग वह हर एक कृत्य करता है जो उसके धर्म विपरीत हो। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्ति के बाद अपने व्याख्यान में अनन्तमूर्ति अपने इन कृत्यों की स्वीकारोक्ति इस प्रकार से करते हैं- 'जिस पवित्र जगत में मैं रहता था, उसके मिथक को तोड़ने का एक मात्र तरीका यही हो सकता था कि मैं कुछ ऐसा करूं कि जो नाटकीय होने के साथ हीं असामान्य भी हो। जिससे कि मैं स्वयं के सम्मुख यह साबित कर सकूं कि पत्तर कैसा भी हो पत्तर ही है और उसी तरह पेड़ महज़ पेड़, और कुछ नहीं। इसके लिए मैंने किसी खास पेड़ के नीचे रखा एक विशेष पत्तर चुना। मुझे बताया गया था कि यह भगवान् का प्रतिरूप है। मैंने एकांत में चुपचाप उस पर पेशाब कर दिया। इसके बाद मैंने आतंक के साये में उनके दिन और रातें गुज़ारी। बराबर यह लगा रहता कि जैसे सजा के तौर पर कुछ घटने वाला है।'[४] इस भय और आतंक के साये से बाहर निकलना हीं अनन्तमूर्ति का अभिप्रेत है। वह भय जो बाल्यकाल से ही संस्कार रूप में उनके हर नब्ज़ में समाया हुआ है। इससे बाहर निकलना आसान नहीं बेहद जटिल और जोख़िम भरा है। इस उपन्यास की अन्तर्वस्तु इसी भय और जटिलता से बाहर निकलने के जोख़िम का प्रतिपादन है। इस उपन्यास का मूल और केंद्र यही है। नारणप्पा और ब्राह्मणों का द्वन्द्व तो इसका बाह्य आवरण है। लंदन जाने पर मित्र और शोध निर्देशक मालकॉम ब्रैडबरी (पाश्चात्य उपन्यासकार) के साथ 'दी सेवेंथ सील' फ़िल्म देखने के बाद अनन्तमूर्ति के अतीत के अनुभूत चलचित्र चल पड़ते हैं और यह उपन्यास हमारे सामने आता है।

इस प्रकार इस उपन्यास में नारणप्पा और प्रणेशाचार्य सहित ब्राह्मणों का द्वन्द्व, उनके धर्म और रूढ़िवादिता, समझौता परस्त मूल्य और चरित्र आदि इसके गौड़ पक्ष हैं तो प्रणेशाचार्य का चन्द्री से सम्भोग के उपरान्त उठा अन्तर्द्वन्द्व जिसमें वो यथार्थता की भूमि पर अपने सहज प्राकृतिक मनुष्यत्व, उसकी इच्छाओं के पूर्ति लिए अपने धर्म, नियम और मूल्यों से लड़ते हैं वह प्रधान पक्ष है। पूरा का पूरा कथानक ही प्रतीकात्मक है। इसके प्रकाशकीय में लिखा गया है-'यथार्थ ब्यौरों से भरी यह प्रतीकात्मक कथा है।'[५]

प्राणेशाचार्य का परिचय लेखक इन शब्दों में कराता है-'भगवान की कृपा समझकर, रोगग्रस्त पत्नी की सेवा-सुश्रुषा में लीन रहते हुए, नारणप्पा के दुर्व्यवहारों को सहते हुए, धर्म और कर्म के अर्थ से अनभिज्ञ ब्राह्मणों के मस्तिष्कों में भरे अहंकार को शास्त्र व्याख्या से दूर करते हुए, प्रणेशाचार्य जी अपने गृहस्थ आश्रम का कठोर चंदन-काष्ठ घिसकर, अपने जीवन और कर्तव्यों को अधिक सुगंधित करते चल रहे थे।'[६]

उपन्यास कथा के आरंभ में प्रणेशाचार्य का यह परिचय लेखक प्रस्तुत करता है। लेकिन सायंकाल की सुगंधि में चन्द्री की गोद में आते हीं उनका यह आवरण जैसे उड़ सा जाता है और सामने आता है नंग-धड़ंग बिलकुल खुला हुआ मनुष्य जो चन्द्री जैसी सुंदरी का भोग करता है। वहां वह अपने सारे संस्कार भूल जाता है जो चन्द्री के यौवन और सौंदर्य को ढंक कर उसे विधवा और नीच जाति का बताते हैं जो उन्हें ब्राह्मण व्यक्तित्व के सांचे में बांध कर वह सब करने से रोकते हैं। कथा यहीं से अपने विकास की ओर अग्रसर हो जाती है।

वह चन्द्री को पुनः पाना चाहते हैं, उस अनुभूति को पुनः अनुभूत करना चाहते हैं जो चन्द्री से मिली। चन्द्री के साथ किये गए कृत्य को प्रणेशाचार्य सबके सामने इस सत्य को साझा कर अपने मन को हल्का करना चाहते हैं। लेकिन चन्द्री उनसे जैसे दूर होती है। उन पर फिर से उनका पुराना संस्कार हावी होने लगता है। उन्हें भयंकर संकोच होता है और वो अग्रहार छोड़ कर अकस्मात जीवन कानन में निकल पड़ते हैं। धर्मधुरंधर प्राणेशचार्य अपने ज्ञान के बोझ तले दबे-दबे अपने ही विचारों में डूब-उतरा रहे थे। दुनिया के सुख-दुख से उनका नाता टूट गया था। निश्चित तौर पर ऐसे ही पंडितों के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि-'वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है, जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है।'[७] प्राणेशाचार्य स्वाभाविक जीवन और कृत्रिम जीवन के द्वंद्व में जकड़े हुए प्रतीत होते है। इस द्वन्द्व को चरमावस्था तक ले जाना लेखक की वाज़िब मजबूरी रही चूँकि उसी अवस्था से कोई विचार किसी निर्णय पर पहुंचता है, वहीं से आर और पार की स्थिति आती है। होता भी यही है अब प्रणेशाचार्य अपने द्वन्द्व के अंतिम छोर पर खड़े होकर निर्णय लेते हैं, यह स्वीकारते हैं कि- 'लेकिन यही मेरा सत्य है। कुछ हो गयी भूलों की मात्र यह स्वीकारोक्ति नहीं है, किसी किए पाप का पश्चाताप भी नहीं, केवल सच्चाई भर है। मेरी अपनी सच्चाई। इसलिए यह मेरा निर्णय है। अपने इस निर्णय से ही मैं अपने सम्पूर्ण अतीत को तिलांजलि दे रहा हूँ।'[८] सत्य है यह केवल स्वीकारोक्ति मात्र नहीं यह वह निर्णय है जो प्रणेशाचार्य का नया संस्कार करता है, उनका व्यक्तित्वान्तरण करके उन्हें एक नया व्यक्तित्व देता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह प्रतीकात्मक कथा है तो यहां प्रणेशाचार्य पूरे ब्राह्मणिक व्यवस्था का प्रतीक हैं, वो लेखक के अन्तर्मन का जीवंत चरित्र हैं जिसके माध्यम से इन सबका नया संस्कार होता है। अंत में लेखक प्रणेशाचार्य को इस निणन्य के साथ एक निष्कर्ष तक पहुंचाता है जो आज के समय का यथार्थ रूप है, उसका अनिवार्य मांग है। सभ्यता और समाज के ना जाने कितने आवरणों को हमने ओढ़कर सहज प्राकृतिक मनुष्यता, उसकी इच्छा और जिजीविषा को ही तोप दिया है। लेखक उससे, उसके भय के साये से उबरना चाहता है। अपने जीवन को उसके मूल रूप में अपनी शर्तों पर जीना चाहता है। वह ना सिर्फ़ जीना चाहता है बल्कि दूसरों को भी वैसे जीने के लिए प्रेरित करना चाहता है। यही कारण है कि वह नारणप्पा जैसे चरित्र को अग्रहार के ब्राह्मणों के सामने रखकर रूढ़ियों का पुरजोर विरोध करता है, शव-संस्कार की समस्या को सामने रखकर उनकी जटिलताओं को स्पष्ट करता है, ब्राह्मणों पर हावी उनके मानुषी इच्छाओं और वासनाओं की मांग के आगे उनके मूल्यों को घुटने टेकते हुए प्रस्तुत करता है। जिससे सामान्य पाठक भी इस समस्या से अवगत होकर अपने जीवन की यथार्थता को जान सकें। सुशांत कुमार का यह कथन उपन्यास के बारे में अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है, 'संस्कार उपन्यास केवल मनुष्य के मरने के बाद की जाने वाली संस्कार की कथा नहीं है और ना ही यह पुरातन रूढ़ियों और परंपराओं के संस्कार सीखकर उनके जड़ पालन की कथा है,

अपने मूल (जड़) के साथ संबंध होकर नई सोच को अपनाने की कथा है तथा पुराने संस्कार (पुरानी सोच) तथा नए संस्कार (आधुनिक सोच) के बीच सामंजस्य रखकर जीने की कथा है।'[९]

निष्कर्षः-यह उपन्यास बेहद महत्वपूर्ण है। साथ ही इस उपन्यास की विषयवस्तु और यथार्थ-चित्रण इसे और अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है। लेखक अपने पुरातन संस्कार को तिलांजलि देकर अपना नया संस्कार चाहता है, व्यापक रूप में समूचे समाज को नए रूप में संस्कारित और मानवीय पक्ष की तरफ अग्रसारित करना चाहता है और इसमें वह बहुत अधिक सफल भी हो पाया है लेकिन संतुष्ट नहीं। उपन्यास के अंत में पुट्ट कहता है- 'कल आपसे मिलूँगा' जिससे स्पष्ट होता है कि लेखक को और उसके समाज को समय के साथ जब पुनः संस्कार चाहिए होगा तो तब पुट्ट जैसा उद्दीपक उसके पास होना चाहिए। इसलिए वह उससे फिर मिलने को कहता है। डॉ. अभिषेक शर्मा की टिप्पणी इस उपन्यास पर वाज़िब प्रतीत होती है 'संस्कार उपन्यास की कहानी में अपने गुण-दोषों के साथ मनुष्य को 'मनुष्य मात्र' रहने दिया गया है, और उसे देवता होने से बचाया गया है!!! मनुष्य की सार्थकता मनुष्यत्व में है, देवत्व में नहीं। नारणप्पा, चन्द्री और पुट्ट के माध्यम से उपन्यासकार ने इन्हीं बात को रेखांकित किया है।[१०]

स्रोत एवं सन्दर्भ-

१. आलोचना पत्रिका, अंक-७१, संपादक, आशुतोष कुमार, संजीव कुमार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०२३, पृष्ठ संख्या-३९।
२. संस्कार, यू.आर.अनंतमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, २०२२, पृष्ठ संख्या-३२
३. वही, पृष्ठ संख्या-१६-१७
४. किस प्रकार की है यह भारतीयता,यू. आर. अनंतमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११, पृष्ठ संख्या-३९
५. संस्कार, यू.आर.अनंतमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, २०२२, पृष्ठ संख्या-५
६. वही, पृष्ठ संख्या-२६
७. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, सम्पादक-मुकुंद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१३, भाग-९, पृष्ठ संख्या-२३।
८. संस्कार, यू.आर.अनंतमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, २०२२, पृष्ठ संख्या-१५४
९. यू.आर.अनंतमूर्ति प्रतिरोध का विकल्प, अंकित नरवाल, आधार प्रकाशन, पंचकूला(हरियाणा), २०१९, पृष्ठ संख्या-८७
१०. उपन्यासः मूल्यांकन के नए आयाम, संपादक-प्रभाकर सिंह, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, वाराणसी, २०१४, पृष्ठ संख्या-३५४

कृतकर्मफलभोग-विमर्श

रत्नेश पाण्डेय

शोधार्थी
वीर कुँवर सिंह वि०वि० आरा (बिहार)
म०नं० ३२८ तमसा मार्ग, अकबरपुर अम्बेडकरनगर (उ०प्र०)

'सृष्टि' कर्ममूलक हैय कारण कि वह सत्व, रजस, तमस्- गुणत्रयस्वभावा 'मूल प्रकृति' की विकृति है। तज्जनित कोई भी जीव बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि सभी प्राणी प्रकृति के गुणों से विवश होकर कुछ न कुछ कर्म करते ही रहते हैं१-

न हि कश्चिद क्षणमपि, जातु निष्ठत्यकर्मकृत
कार्यते ह्यवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजैगुणैः

अभिप्राय यह है कि जगत् के समस्त जीव, जाग्रत या स्वप्नावस्था में, शरीर व इन्द्रियों से प्रतिक्षण कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, क्षण भर भी निष्क्रिय नहीं रह सकते। यद्यपि सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त ने एक दूसरे के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की हैय पर उन्होंने कर्म एवं पूर्वजन्म के सिद्धान्त को एक स्वर से स्वीकार किया है तथा बौद्धों एवं जैनियों ने भी इसे, अपने-अपने ढंग से स्वीकार कर लिया है।२

ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह मृतक को, उन लोगों के लोक में ले जायेंय जिन्होंने अच्छे कर्म किये हैं- 'तभिर्वहैनं सुकृतां उलोकम्।'३ ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्कर्मों के फलों एवं दुष्कर्मी के प्रतिकार के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलता है।४ शतपथ ब्राह्मण के काल तक यह धारणा बँध चुकी थी कि जो व्यक्ति, एक जन्म में किसी का अनिष्ट करता है, वह व्यक्ति दूसरे जन्म में अनिष्टकर्ता का प्रतिकार करता है। शतपथब्राह्मण इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुसार, निर्मित लोक में जन्म लेता है और जो देवों के लिए यज्ञ करता है, वह उस लोक को नहीं प्राप्त करता, जिसे आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला पाता है।

मनुष्य अपने कर्मों एवं आचरण से अपना भविष्य बनाता है, इस सिद्धान्त की शिक्षा बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलती है। जो जैसा आचरण करता है वह वैसा ही होता है, अच्छे कर्मों वाला अच्छा जन्म पायेगा, बुरे कर्मों वाला बुरा जन्म पायेगा, पुण्य कर्मों से पुण्य होता है, दुष्कर्मों से बुरा। जिस किसी से मनुष्य का मन एवं सूक्ष्म शरीर संलग्न रहता है, उसी के पास अपने कर्मों के फलों के साथ वह जाता हैय और जो कुछ कर्म वह इसलोक में करता है, उसका फल प्राप्त करने के उपरान्त वह पुनः उस लोक से कर्म लोक में आ जाता है।

वर्तमान जीवन में किये गये कर्म एवं आचरण मनुष्य के भावी जीवन का निर्माण करने वाले होते हैं और वर्तमान जीवन, मनुष्य द्वारा अतीत जीवन या जीवनों में किये गये कर्मों का फल हयै किन्तु कर्म एवं आचरण मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करते हैं तथा वह इच्छा कामनाओं के कारण ही जागृत होती है। आचार्य शंकर ने- 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्तेकामा' का अनुसरण करते हुए कहा है- 'कामों मूलं संसारस्य'अर्थात् काम (इच्छा) संसार का मूल है। कर्मानुसार पुनर्जन्म की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए छान्दोग्योनिषद

का कथन है- 'जिनके आचरण रमणीय रहे हैं, वे शीघ्र ही रमणीय योनि प्राप्त करेंगे। यथा-ब्राह्मण योनि या क्षत्रिय योनि या वैश्ययोनिय किन्तु जिनके आचरण कपूय (बुरे) रहे हैं वे शीघ्र ही कपूय (बुरी) योनि प्राप्त करेंगे, यथा-श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डाल योनि है। 'वेदान्तसूत्र' के ३ सूत्र- (३/१/३४-३६) है।

(ट ा)

वैषम्यनैघृण्ये.......................................दशग्यति।

(पप) नकर्माविभागदिति चेन्नानदित्वात्।

(पपप) उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।

जीव अपने कर्मानुसार ही श्रेष्ठ अथवा निष्कृष्ट योनि को प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप सुख-दुख भोगता है। स्मृतियों में भी जगह-जगह जीवों को, अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त होने की बात कही गई है।

जीवात्मा का स्वरूप और उसके कर्म अनदि है। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना, यह क्रम अनदि काल से जारी है। जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, उनका तो क्षय हो जाता है, शेष संस्कार रूप में जीवात्माओं में अवस्थित रहते है। जीवकृत कमी का यह प्रवाह अनदि है। जीवों के संचित संस्कारों के अनुसार ही ब्रह्म उन्हें कर्मों में प्रेरित करता है। वह जीवों के स्वभाव एवं रूपदि को परिवर्तित नहीं करता। जीव एवं उसके कर्मों के अनदि होने का संकेत-

'अजो नित्यः श्याश्वतोऽयं पुराणों, न हन्यते हन्यमाने शरीरे' से भी मिलता है।

कर्म एवं पुनर्जन्म के विषय में अति प्राचीन काल से ही लोगों का मन प्रभवित था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आया है- विभिन्न वर्णों के लोग अपने व्यवस्थित कर्तव्यों के सम्पादन से सर्वोच्च एवं अपरिमित सुखका भोग करते हैं और कर्म-फल शेष होने के कारण वे लौट आते हैंय और यथोचित जति-कुल, रूप, रंग, बल, बुद्धि, प्रज्ञा, सम्पत्ति अदि के साथ जन्म लेते हैं, यही नियम दुष्कृत्य करने पर भी लागू होता है। यही बात गौतमधर्मसूत्र१६ में भी आयी है।

कर्म सिद्धान्त तीन बातों पर बल देता है- १. यह वर्तमान अस्तित्व को, अतीत में किये गये कर्मों का फल मानता है, २. बुरे कर्म का नाश, सत्कर्म से नहीं हो सकता, दुष्कर्मों का भोग भोगना ही पड़ता है। ३. दुष्कर्म के लिए जो दण्ड होता है, वह व्यक्तिगत एवं स्वयं होने वाला होता है। कर्म के सिद्धान्त से ही हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। दुष्कर्म अपना फल गौ के समान तुरन्त ही नहीं उपस्थित कर देताय बल्कि धीरे-धीरे अपने कर्ता की जड़ को कुतरता है।७ अतीत अस्तित्वों में किये गये कर्म वर्तमान अस्तित्व के रूप को निर्धारित एवं निश्चित करते हैं और वर्तमान अस्तित्व के कर्म पूर्व जन्मों के शेष कर्मों के साथ भावी अस्तित्व का रूप निर्धारित करते हैं। यही संक्षेप में पूर्वजन्म के सिद्धान्त का आधार है।८

''यह आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीरों में जाता हुआ सूक्ष्म तत्वों से घिरा हुआ चलता है। 'संसार' एक शब्द है, जिसका अर्थ है- जन्मों एवं मृत्युओं के चक्र में आना-जाना।''९

जो व्यक्ति अविज्ञानवान् है, अमनस्क है, जो सदा अशुचि है, उसे वह सर्वोच्च पद नहीं प्राप्त होता और संसार (जन्म एवं मरण) में आता-जाता है।१० जिस प्रकार एक अभिनेता विभिन्न अभिनय करने के लिए विभिन्न रंगों का प्रयोग करता है, उसी प्रकार यह आत्मा विभिन्न कर्मों के अनुसार विभिन्न रूपों एवं शरीरों को धारण करता है-

'विपाक कर्मणां
प्रेत्य केपचिहिद जायते।
इहं वामुत्र वैकेषां
भावस्तव प्रयोजनम्।।
यथहि भारतो
वर्णवणग्यत्यात्मनस्तनुम्।
नानारूपाणि
कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजारस्तन।।११

उपनिषदों में आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी, उपर्युक्त विवेचन प्रमणिक हैं, और वे संसारावस्था या व्यवहारावस्था से सम्बन्धित है, किन्तु अद्वैत के सर्वोच्च आध्यत्मिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह धाराशायी हो जाता हैय क्योंकि आत्मा-परमात्मा से अभिन्न है। आचार्य शंकर की मान्यता है कि जब तक यह आत्मा संसारी हैय और जब तक यह सम्यक् ज्ञान से सांसरिकता से दूर नहीं होता, तब तक आत्मा एवं बुद्धि से संयोग नहीं टूट सकता। जब तक बुद्धि के साथ आत्मा का यह सम्बन्ध चलता रहता है, तब तक जीव सांसरिकता में लिप्त रहता है।१२

गीता ने भी - २/१२-१३, २२-२७, ४/८-९, ७/१९, ८/६, १५, १६ एवं ९/२१ स्थलों पर, पुनर्जन्म-

सिद्धान्त को स्पर्श किया है। व्यक्ति जो कुछ भी प्राप्त करता है, वह पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है।१३ पुराणों ने भी अच्छे-बुरे कर्मों की महत्या पर बल दिया है। अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है जब तक फलों का नाश नहीं हो जाता। सैकड़ो जन्मों के उपरान्त भी कर्म का नाश नहीं होता-

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम।

नाभुकतं क्षीयते कर्म ह्यपि जन्मशतैःप्रियम।।१४

बिना कर्मफल भोगे कर्म का नाश नहीं होताय अतीत जन्मों के कर्मों से उत्पन्न बन्धनों को, कोई हटा नहीं सकता।१५ मनुष्य अपने कर्मों द्वारा देवता, मानव, पशु-पक्षी, वा स्थावर बन सकता है। अपनी सन्तान की उत्पत्ति से कोई व्यक्ति पूर्वजन्मों में किये गये कर्मों के प्रभाव को दूर नहीं कर सकता- 'उपभोगादूते तस्य नाशः एवं न विद्यते। प्राक्तनं बन्धन कर्म, कोऽन्यथा कर्तुमर्न्हति।१६

पुनर्जन्मसिद्धान्तानुसार कर्म- चक्र अनन्त है, तथा मनुष्य को कर्मफल भोगना ही पड़ता है। इसी को कर्मविपाक कहते हैं। इस कर्म विपाक का पहला नियम यह है कि- 'जहाँ एक बार कर्म का आरम्भ हुआ कि फिर उसका चक्र निरन्तर चलता रहता है, और जब सृष्टि का संहार होता है, तब भी कृत कर्म का संस्कार बीज रूप में विद्यमान रहता है एवं सृष्टि के पुनः अस्तित्व में आने पर कर्मबीज से अंकुर फूटने लगते हैं।१७ मनुस्मृति एवं महाभारत में कहा गया है कि इन कर्मफलों को, न केवल हमें, बल्कि कभी-कभी हमारे नाम- रूपतामक देह से उत्पन्न हुए हमारे लड़कों तथा नतियों तक को भोगना पड़ता है।१८

कर्मविपाक प्रकरण में, कर्म के ३ भेद माने गये हैं- १. संचितकर्म, २. प्रारब्ध कर्म, ३. क्रियमाण कर्म। वर्तमान में जो कर्म किया जाता है, वह क्रियमाण कर्म है। जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान (बुद्धि) में जमा होता है उसे संचित र्क कहते हैं। 'प्रकर्पेण आरब्धः प्रारब्धः'- अर्थात् अच्छी तरह से फल देने के लिए जिसका आरम्भ हो चुका है, वही प्रारब्धकर्म है।१९ जो पूर्व में किये हुए कर्मों के फल को सुख-दुःख के रूप में भोग किया जाता है, उसको प्रारब्ध कहते हैं।२०

अज्ञानदि से उत्पन्न होने वाले कर्मों का फल-जति, आयु व भोग के रूप में अगले जन्म में मिलता है। कुछ कर्मों का फल इसी जन्म में, आयु और भोग के रूप में मिलता है। जब तक कर्मों के मूल में अविधा अदि क्लेश विद्यमान रहते हैं, तब तक कर्मों के फल जति (योनि) आयु और भोग के रूप में मिलते रहते हैं य किन्तु जब योगाभ्यास द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त हो जाता है व अविद्या का नाश हो जाता है, तब समस्त क्लेश द्ग्धबीजवत् हो जाते हैं, और फिर योनि, आयु, भोग रूप कर्मफल मिलने बन्द हो जाते हैं, तथा योगी को मोक्ष की प्रप्ति हो जाती है।२१ या यूँ कहें कि साधक अपने सत्-चित्-आनन्दात्मक स्वरूप में आ जाता है, और कह उठता है- 'चिदानन्दरूपो शिवोऽहं शिवोऽहम्'

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

१. श्रीमद्भगवद्गीता- ३/५

२. डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-५, पृ० ३५०

३. ऋग्वेद- १०/१६१४

४. शतपथ ब्राह्मण- १२/९/१/१

५. डॉ० पाण्डुरंगा वामन काणे, धर्मशा का इति. भाग-५ पृ० ३४३

६. बृ०उप०- ४/४/५-७

७. बृहदारण्यकोपनिषद- ४/५/७

८. छा. उपनिषद- ५/१०/७-८

९. वेदान्त सूत्र- २/१/३४

१०. वे सूत्र-२/१/३४

११. वे. सूत्र- २/१/३६

छायावाद और स्वच्छंदतावाद

ओम प्रकाश यादव

सहायक अध्यापक (अतिथि)
कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्ट्डीज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली
मोबइल नंबर -९९९०९३२५६८
E-mail - omprakashdu1602@gmail.com

प्रत्येक कालखण्ड की नई भावधारा का उदय अपनी पूर्ववर्ती भावधाराओं के टकराव का ही परिणाम होता है; छायावाद भी इससे अछूता नहीं। पर प्रश्न यहाँ पर यह है कि अपनी पूर्ववर्ती भावधाराओं से अलग इस कालखण्ड के उद्भव के संबंध में इतना विवाद क्यों है? इस संबंध में निम्न प्रश्न उठाये जा सकते हैं- हिन्दी कविता में छायावाद का उद्भव के क्या कारण हैं? इसकी प्रेरक शक्तियाँ क्या थीं? छायावाद का प्रेरणास्रोत भारतीय भावधारा थी या कोई अन्य भावधारा? छायावादी कविता के उद्भव काल से ही इस पर विभिन्न काव्यधाराओं के अनुकरण, उनकी हू-ब-हू नकल, उन काव्यधाराओं की कविताओं का भावानुवाद जैसे अनेक आरोप लगते रहे। छायावादी कविता पर चर्चा करते हुए अधिकांश आलोचक प्रायः इसे पश्चिम की स्वच्छंदतावादी कविता के संदर्भ में देखते हैं और स्वच्छंदतावाद के इसी प्रभाव या अनुकरण के कारण इस कविता को स्थापित या ख़ारिज करने की भी कोशिश करते हैं। इस संबंध में आचार्य शुक्ल का मत है कि 'पुराने ईसाई संतों के छायाभास (फैंटसमाटा) तथा यूरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिकः प्रतीकवाद (सिंबालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगला में ऐसी कविताएं 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। वह 'वाद क्या प्रकट हुआ' एक बने बनाये रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ नये कवि एक बारगी उस ओर झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य क्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियों का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अंग्रेजी और बंगला की पदावली का जगह-जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र

उद्भावना नहीं सूचित करती।'[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ही तरह महावीर प्रसाद द्विवेदी भी 'छायावाद' नाम के आधार पर इसको व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार, 'अंग्रेजी में एक शब्द है- माइसटिक या माइसिटिकल। पंडित मथुरा प्रसाद मिश्र अपने त्रैभाषिक कोश में उसका अर्थ लिखा है- गूढार्थ, गुप्त, गोप्य और रहस्य।... छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ नहीं आता। शायद उसका मतलब है किसी कविता की छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद कहना चाहिए।'[२] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी दोनों छायावद में रोमांटिसिज्म का प्रभाव पश्चिम से बंगला होते हुए हिन्दी में आया हुआ मानते हैं। दोनों आलोचक छायावाद की अन्तर्वस्तु के आधार पर यह निष्कर्ष देते हुए नहीं दिखाई देते बल्कि इसके नाम 'छायावाद' के आधार पर इस कविता का संबंध रोमांटिसिज्म से जोड़ते हुए दिखाई देते हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'छायावाद' नाम के आधार पर इस कविता का संबंध पश्चिम की स्वछंदतावादी कविता से जोड़ने के संदर्भ में यहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत का उल्लेख तर्क संगत लगता है। छायावादी काव्य के संदर्भ में वे कहते हैं, 'इस नवीन प्रकार की कविता को किसी ने 'छायावाद' नाम दे दिया है। यह शब्द बिल्कुल नया है।... छायावाद शब्द केवल चल पड़ने के जोर से हो स्वीकारणीय हो सका है, नहीं तो इस श्रेणी को कविता को प्रकट करने में यह शब्द एकदम असमर्थ है।'[३] मुकुटधर पाण्डेय अपने निबंध 'छायावाद क्या है?' में छायावाद को परिभाषित करते हुए इसका संबंध 'मिस्टिसिज्म' से जोड़ते हैं। इस तरह वे 'छायावाद' को रहस्यवाद के अधिक निकट पाते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने स्वच्छन्दतावाद, छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर करते हुए छायावाद और रहस्यवाद को स्वच्छन्दतावाद की ही विभिन्न शैलियाँ मानते हैं। वे इन्हें स्वच्छन्दतावाद से पृथक् करके देखना उचित नहीं मानते। उनका मानना है कि, 'यदि हम तीनों वादों (स्वच्छन्दतावाद, छायावाद और रहस्यवाद) में अन्तर करना चाहें तो कह सकते हैं कि स्वच्छन्दतावाद नवयुग की सभी प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य-स्वरूप है जिसमें परम्परागत-काव्यधारा और काव्योपकरणों के विरुद्ध विद्रोही उपकरणों की प्रधानता है। उसमें नई भावसृष्टि और नये अलंकरण हैं बहिर्मुखता के स्थान पर अन्तर्मुखी प्रयाण है, प्रकृति का निसर्गजात आकर्षण है, शब्दावली में नवीन संगीत है। छायावादी काव्य में ये तत्त्व हैं।'[४] वाजपेयी जी स्वच्छन्दतावाद को एक प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं और वे ये स्वीकार करते हैं कि जो प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दतावाद में हैं वही प्रवृत्तियाँ छायावाद में भी विद्यमान हैं।

छायावाद और स्वच्छंदतावाद सम्बन्धी इन विवादों के मूल में छायावादी और स्वच्छंदतावादी कवियों की कविताओं की भावसाम्यता है। अंग्रेजी कवियों के यहाँ जिस प्रकार कौतूहल की भावना विद्यमान है उसी प्रकार छायावादी कवियों के यहाँ भी। शैली विनिष्ट होते हुए सौन्दर्य को देखकर पूछ बैठता है-

Sprit of BEAUTY, that dost consecrate
with thine own hues all thou dost shine.
upon of human thought or from, where art thou gone?
Why dost thou pass away and leave our stThis dim vast vale of tears,
Vacant and desolate

तो पंत के हृदय में 'छाया' को देखकर अनेक प्रश्न उठते हैं। उनके मन में उत्पन्न वे कौतूहल निम्नलिखित पक्तियों के माध्यम से व्यक्त होते हैं-

'कौन, कौन तुम परहित-वसना,
म्लान मना, भू पतिता-सी,
वातहता विच्छिन्न लता-सी,
रति-श्रांता ब्रज वनिता सी,
नियति-वंचिता, आश्रय-रहिता,
जर्जरिता, पद-दलिता-सी।
धूल धूसरित मुक्त कुन्तला,
किसके चरणों की दासी?'

कीट्स ने कल्पना के पंखों पर प्रकृति के लोक में उड़ जाने की आकांक्षा प्रकट की है

'Away! away! for I will fly to thee,
Not charioted by Bacchus and his pards,
But on the viewless wings of poesy,
Though the dull brain perplexes and retards,
Already with thee! tender is the night,
And happy the queen- Moon is on her throne
Cluster'd around by all her starry Fasy.'

जयशंकर प्रसाद भी सांसारिक भौतिकता से मुक्त होकर प्रकृति की शांत गोद में विश्राम करने की इच्छा प्रकट करते हैं-

'ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धोरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी।
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो.
तज कोलाहल की अवनी रे।'

मानव जीवन की सबसे स्वच्छन्द अवस्था होती है बचपन। इस उम्र में मनुष्य सांसारिक समस्याओं से दूर अपनी ही रमणीय दुनिया में हर्ष और उल्लास का

गान करता है। बालपन के प्रति इसी अटूट प्रेम को प्रदर्शित करते हुए बायरन अपने ह्रदय की वेदना को व्यक्त करता है

'There is not a joy the world can give like that it takes away

when the glow of early thought declines in feeling's dull decay,

'Tit is not on youth's smooth cheek the blush alone, which fades so fast,

But the tender bloom of heart is gone, ere youth itself be past'

बचपन के इस निर्विघ्न सुख-शान्तिपूर्ण जीवन के प्रति यदि छयावादी कवि भी आकर्षित हो तो कोई अचरज की बात नहीं। प्रसाद जी ने इस अल्हड़ बचपन के प्रति अपना अनुराग निम्न पक्तियों के माध्यम से व्यक्त किया है-

'तुम्हारी आँखों का बचपन!
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल
हारता था हँस-हँस कर मन
आह रे, वह व्यतीत जीवन।'

परन्तु यह भावसाम्यता प्रवृत्तिगत है न कि अनुकरणजन्य। छायावादी कविता पर 'रोमाटिसिज्म का अनुकरण' के आरोप के जवाब में निराला लिखते हैं 'अंग्रेजी संगीत से प्रभावित होने के यह माने नहीं कि उसकी हू-ब-हू नकल की गई। अंग्रेजी संगीत की पूरी नकल करने पर उससे भारत के कानों को कभी तृप्ति होगी, यह संदिग्ध है।'[५] इसका अर्थ यह है कि छायावादी कविता का स्वच्छंदतावादी कविता से भावसाम्यता के वावजूद इसके उपज और विस्तार की अपनी ज़मीन है।

छायावाद और स्वच्छंदतावाद सम्बन्धी इन विवादों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें स्वच्छंदतावाद के स्वरूप एवं छायावाद से उसके अन्तःसम्बन्ध को समझना होगा। उसके पश्चात हमें यह भी देखना होगा की हिंदी आलोचना ने इनके (छायावाद और स्वच्छंदतावाद) संबंधों को किस रूप में देखा और छायावादी कविता का कितना वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया। इन तमाम प्रश्नों पर प्रो.राजेंद्र गौतम की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत का स्वच्छंदतावादी काव्य' महत्वपूर्ण हस्तक्षेप करती है। इस पुस्तक में प्रो. गौतम ने सुमित्रानंदन पंत के काव्य के माध्यम से छायावाद और स्वच्छंदतावाद के साम्य-वैषम्य पर तार्किक एवं विशद विचार प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य साहित्य में स्वच्छंदतावाद के विकास को प्रो. गौतम तीन चरणों में विभाजित करके देखते हैं- १. यूनानी एवं रोमन साहित्य, २. मध्यकालीन साहित्य, ३. उत्तर मध्यकालीन साहित्य। पश्चिमी स्वच्छंदतावाद पर चर्चा करते हुए इसका सरलीकरण करने के क्रम में प्रायः इसका संबंध केवल अंग्रेजी साहित्य तक ही सीमित कर दिया जाता है,परन्तु पश्चिमी स्वच्छंदतावाद का संबंध इंग्लैण्ड के साथ-साथ जर्मनी तथा फ्रांस से भी है। जर्मनी तथा फ्रांस में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का विकास इंग्लैण्ड से पहले आरम्भ हुआ। कुछ आलोचक तो प्रसिद्ध जर्मन साहित्यकार गेटे के प्रसिद्ध उपन्यास 'सौरोज ऑफ वर्थर' में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों को खोजने की कोशिश करते हैं पर गेटे को कृतियों को पढ़ने के पश्चात् यह पता चलता है कि उसके यहाँ स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का पूर्व विकास नहीं हो पाया है। उसकी कृतियों में रोमाटिसिज्म और क्लासिसिज्म का द्वंद्व दिखाई पड़ता है। 'श्लेगिल बन्धुओं, फ्रेडरिक तथा ऑगस्ट विल्हेम को जर्मन स्वच्छन्दतावाद का आरम्भकर्ता कहा जाता है जिन्होंने शेक्सपियर के जर्मन अनुवाद भी किये हैं और उन्होंने संस्कृत का भी अध्ययन किया है।'[६] श्लेगिल बन्धुओं ने रोमाटिसिज्म और क्लासिसिज्म का प्रयोग विरोधी अर्थों में किया। जर्मन रोमाटिसिज्म को प्रमुख विशेषता उसकी अपनी देशी उपज है जिसमें राष्ट्रीय आकांक्षों विद्यमान हैं और उसका स्वरूप वैविध्यपूर्ण है।

फ्रेंच रोमाटिसिज्म की शुरुआत रूसो के इस वक्तव्य से कि 'मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है पर सर्वत्र बंधनों में जकड़ा हुआ है' मानी जाती है। रूसो ही सम्पूर्ण फ्रेंच रोमांटिसिज्म की पृष्ठभूमि में विद्यमान है। फ्रेंच रोमांटिसिज्म को आगे बढ़ाने का श्रेष विक्टर ह्यूगो को दिया जाता है। उसने अपने उपन्यासों, नाटकों एवं कविताओं के माध्यम से, इसका नेतृत्व किया। विक्टर ह्यूगो के अतिरिक्त फ्रेंच रोमांटिसिज्म के उन्नायकों में लैमतान, विग्री म्यूजेत आदि के नाम अग्रणी हैं। इन

रचनाकारों ने फ्रेंच रोमांटिसिज्म में रोमानी मुद्रा को अभिव्यक्ति देने के लिए संवेदन, कल्पना और भावावेग का आश्रय लिया। फ्रांस में काव्य नाटक, उपन्यास, समीक्षा आदि साहित्यिक विधाओं के अतिरिक्त रोमांटिसिज्म ने इतिहास, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि के संदर्भ में विचार रखने वाले रचनाकारों को भी प्रभावित किया।

स्वच्छंदतावाद के सन्दर्भ में अपना विचार व्यक्त करते हुए प्रो गौतम लिखते हैं- 'जब साहित्य में कोई नयी धारा प्रारंभ होती है तो, कवि को आलोचना-कर्म भी (उस धारा को स्थापित करने के लिए) करना पड़ता है। हिंदी में छायावाद में और 'नयी कविता' में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। अतः जब ब्लेक के गीत और 'लिरिकल बैलेड्स' का प्रकाशन हो गया तो निस्संदेह साहित्य में नवीन धारा का सूत्रपात हुआ और उसके अधिवक्ता के रूप में आगे आए वड्र्सवर्थ। उन्होंने सन् १८०० में 'लिरिकल बैलेड्स' के दूसरे संस्करण की भूमिका लिखी। इस भूमिका को स्वच्छंदतावाद का 'घोषणा-पत्र' कहा जाता है।'[७] अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद को दो चरणों में विभाजित करके देखा जा सकता है। प्रथम चरण में वड्र्सवर्थ, कॉलरिज, साउदे स्कॉट आदि के नाम लिए जा सकते हैं। द्वितीय चरण में बॉयरन, शेली, कीट्स आदि प्रमुख हैं। वड्र्सवर्थ ने कविता को परिभाषित करते हुए कहा है- 'Poetry is the spontaneous overflow of powerful emotions recoòected in tranquility. इस परिभाषा के आधार पर तीन प्रमुख बिन्दु उभरकर सामने आते हैं

१. कविता में निर्बाध प्रवाह की प्रवृत्ति प्रमुख है।

२. काव्य में तीव्र भावों की गहनता होती है।

३ भावनाओं का संबंध मानवबुद्धि से अधिक हृदय से है अतः हृदय की आत्मनिष्ठ रागात्मक भावनाओं की अभिव्यंजना ही कविता का लक्ष्य है।

वड्र्सवर्थ द्वारा कविता के संबंध में दी गई यह परिभाषा मुख्य रूप से काव्य को रोमांटिक प्रवृत्तियों की ही द्योतक है। प्रमोद वर्मा वड्र्सवर्थ की कविता को विशेषता बताते हुए कहते हैं 'कल्पना, भावना और आत्मानुभूति को महत्त्व देने के कारण गीतिकविता अभिव्यक्ति का मुख्य साधन बनी। सानेट का सफलतापूर्वक प्रयोग कर बड्सवर्थ ने उसे फिर स्थापित किया। लोकगीत लिखने में भी उन्हें विशेष सफलता मिली। अतुकान्त छन्दों के प्रयोग में उन्हें मिल्टन की सी सफलता मिली। प्रेरणा के क्षणों में छन्द भाषा बिम्ब इत्यादि उपकरणों से संयोजित होकर कविता उनके इशारों पर नाचती थी।'[८]

कॉलरिज काव्य रचना के लिए कल्पना को अत्यन्त आवश्यक बताते हैं। वे कल्पना में कर्तृत्व को असीम शक्ति मानते हैं क्योंकि उसके द्वारा मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा तन्मय होकर सृजन करती है। कल्पना के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैंः 'The poets described in ideal perfection, brings the whole soul of man into activity, with the subordination of its faculties to each other, according to their relative worth and dignity. He diffuses a tone and spirit of unity that blends and (as it were) fuses, each into each by that synthetic and magical power, to which we have exclusively appropriated the name imagination. This power reveals... itself in the balance or reconciles on of opposite of discordant qualities.'[९]

'स्वच्छंदतावाद' की चरम परिणति शेली के काव्य में दिखाई पड़ती है। कॉलरिज की भांति शेली भी काव्य की विधायी शक्ति कल्पना को मानता है। उसके अनुसार कवि वर्तमान में ही नहीं देखता अपितु वह वस्तुओं के संभाव्य पहलुओं को भी देखता है। 'डिफेंस ऑफ पोयट्री' में शेली का कथन है- 'He not only beholds intensely the present as it is, and discovers those laws: according to which present things ought to be ordered, but he beholds the future in the present, and his thought are the germs of the flower and fruit of latest tree. A poet participates in the eternal, the infinite the one.'[१०]

प्रमोद शर्मा शेली के काव्य वैशिष्ट्य के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं 'नवीन और संभाव्य युद्ध विश्लेषण के ऐतिहासिक विस्तार उसे एक स्थान पर एकत्र करने की उत्साहजनक चेष्टा, अपने ही ढंग की निराली काव्य साधना और इसके साथ-साथ दूसरी भाषाओं तथा संस्कृतियों के प्रति सजगता तथ्य जागरूकता शेली के काव्य को विशिष्टता प्रदान करते हैं।'[११]

स्वच्छंदतावाद को और अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए प्रो. राजेंद्र गौतम लिखते हैं कि- 'स्वच्छंदतावाद परंपरित आदर्शों के प्रति विद्रोह है और यह भी ध्यातव्य है कि विद्रोह इस काव्य का निरपेक्ष साध्य नहीं है, साधन है। इसका साध्य है- व्यक्ति-स्वातंत्र्य। इसीलिए स्वच्छंदतावाद की केंद्रीय वृत्ति वैयक्तिक विद्रोह काल के एक बिंदु विशेष पर स्वच्छंदतावाद के उदय का कारण बनता है, वही अपने परवर्ती विकास के चरम बिंदु पर पहुंचकर नयी रूढ़ियों की सृष्टि करता है और एक नए विद्रोह की अपेक्षा को जन्म देता है। इससे प्रमाणित होता है कि स्वच्छंदतावाद मानवेतिहास की प्रगतिशीलता की अभंग श्रृंखला का निर्माण करता है।'[१२] और यह निर्माण देश, काल वातावरण के अनुरूप होता है। 'स्वच्छंदतावादी आंदोलनों में किसी एक युग में विद्रोह का केंद्रीकरण किसी एक विशिष्ट दिशा में होता है, जिससे इसके एक काल-विशेष में किसी एक प्रवृत्ति को प्रधानता मिलती है, दूसरे काल में दूसरी को। समाज में न्याय-व्यवस्था, राज्य, सेना तथा अन्य विधि-निषेधों का उदय साम्य, बंधुत्व तथा जन-कल्याण की भावना से होता है परंतु ये ही व्यवस्थों एवं प्रथों रूढ़ होकर व्यक्ति-स्वातंत्र्य को पूर्णतः कुचल देती हैं कि जिसके कारण अंध विश्वास पर आघृत भाग्यवाद, शोषणपरक वर्णव्यवस्था तथा मानवमूल्यों की अपहर्ता राजभक्ति को प्रश्रय मिलता है। प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि वही है, जिसके कंठ से इन स्थैतिक मूल्यों के विरोध में ललकार उठती है।'[१३] छायावादी कविता को पश्चिम की स्वछंदतावादी कविता से इन्हीं सन्दर्भों में भिन्न एवं विशिष्ट समझना चाहिए।

प्रो. गौतम ने अपनी पुस्तक में स्वच्छंदतावाद के सन्दर्भ में कवियों और आलोचकों के विचारों की पड़ताल करने के पश्चात् जो प्रवित्तपरक निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, वे निम्नलिखित हैं -

१. व्यक्तिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं वैयक्तिकता

२. विद्रोह, क्रांति एवं परिवर्तन-कामना के माध्यम से नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना।

३. अन्तर्मुखी आवेग एवं वेदना-प्रवणता

४. कल्पना का वर्चस्व।

५. असीम, अस्पष्ट, अज्ञात, सुदूर, रहस्यमय एवं अतीत के प्रति उत्कट जिज्ञासा।

६. प्रकृति, सौन्दर्य एवं प्रेम के प्रति विशिष्ट रागात्मक दृष्टिकोण।

७. मौलिक एवं लालित्य-संपन्न शिल्प-विधान।'[१४]

इन्हीं प्रवित्तियों के आधार पर हम छायावाद और स्वच्छंदतावाद में साम्य-वैषम्य का भी विश्लेषण कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि -' स्वच्छंदतावाद का चरम विकास छायावाद युग में हुआ है। अनेक आलोचकों ने तो इन दोनों को पर्याय ही मान लिया है। पर हमारी दृष्टि में हिंदी साहित्य के संदर्भ में स्वच्छंदतावाद का अधिक विकसित रूप छायावाद है। इसमें स्वच्छंदतावाद की सभी विशेषताएं एक साथ मिलती हैं। अंतर्मुखी विद्रोह, कल्पना-प्राधान्य, प्रकृति के प्रति आकर्षण, प्रेम और सौंदर्य के प्रति रागात्मक दृष्टिकोण का प्राधान्य लाक्षणिक-प्रतीकात्मक भाषा-शैली, गीतिकाव्य का प्राधान्य आदि स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ छायावाद की भी विशेषतों रही हैं।'[१५]

भाषा मानवीय विचारों तथा भावों की अभिव्यंजना का सर्वाधिक सहज सरल एवं सशक्त माध्यम है। वह शब्दों के अर्थ पूर्ण संग्रह से जन्म लेती है और समय के साथ इसमें परिवर्तन एवं परिमार्जन भी करती है। छायावादी कविता भावों के साथ-साथ भाषा एवं शिल्प के स्तर पर भी स्वच्छंदता वादी काव्य के समान परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ती हुई दिखाई पड़ती है। प्रो. गौतम काव्य-भाषा के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं-'काव्य-भाषा में अर्थ संकेतन के साथ-साथ सौंदर्यनिष्ठता अनिवार्यतः रहती है। लय-संसक्ति एवं भवावेग के कारण गद्य एवं पद्य की भाषा में भी तात्त्विक अंतर रहता है स्वच्छंदतावाद के अत्यंत नियमबद्धता एवं जड़ता के प्रति विद्रोह के रूप में उभरने के कारण इसकी काव्य-भाषा में जो सहज ऊष्मा होती है उसका संकेत पंत के इस कथन से मिलता है- 'भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण-तत्व राग है। राग के ही पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सांत से अनंत को मिलाती है।'[१६] प्रो. गौतम

आगे लिखते हैं कि- 'स्वच्छंदतावादी कवि की अंतर्मुखता ने इसकी भाषा को आवेगमयता प्रदान की है परंतु इन कवियों की अवेगमायता में ओज और परुषता की अपेक्षा लालित्य एवं माधुर्य है।'[१७]

स्वच्छंदतावादी एवं छायावादी कविता के शिल्प पर बात हो और इसके बिंब-विधान संबंधी बहसों को छोड़ दिया जाए यह असंभव है। स्वच्छंदतावादी कविता के बिंब विधान में निम्नलिखित विशेषताएं हैं जिसे प्रो. गौतम निष्कर्ष रूप में इस प्रकार रखते हैं -

१. तीव्र ऐंद्रिक संवेदना,

२. संश्लिष्ट, सांद्र एवं मिश्रित, बिंब,

३. अप्रस्तुतपरक बिंब-विधान,

४. बिंबों में ऊपरी तार्किकता की अपेक्षा अस्पष्ट, सूक्ष्म सादृश्य एवं भावमूलक समन्विति,

५. संवेदनात्मक भ्रम (Pathetic fallacy) तथा

६. 'कला कला के लिए' आंदोलन का प्रभाव।'[१८]

स्वच्छंदतावादी कविता की बिंब विधान संबंधी निम्नलिखित विशेषताएं प्रसाद, पंत, निराला, एवं महादेवी के कविताओं में प्रमुखता से विद्यमान है। अतः हम कह सकते है की 'स्वच्छंदतावादी कवि जिस उद्दाम वेग और नवीन जीवन-दृष्टि को लेकर अवतरित होता है, वे उसके शिल्प को रूढ़ि के कगारों में आवद्ध नहीं होने देते। अभिव्यक्ति की स्वच्छंदता काव्य-रूप, भाषा, बिंब, अप्रस्तुत आदि सभी शिल्प-उपकरणों को नवीनता प्रदान करती है।'[१९]

छायावादी कविता का स्वच्छंदतावादी कविता से भाव, भाषा एवं शिल्प संबंधी इसी समानता के कारण हिंदी की आरंभिक आलोचना ने इस कविता (छायावाद) को स्वच्छंदतावाद का अंधानुकरण कह कर खारिज करने की कोशिश की जिसके परिणामस्वरूप छायावादी कविता के आरंभिक आलोचना में इसके पक्ष और विपक्ष में आलोचकों के दो धड़े खड़े हो गये। जो इस कविता के प्रभाव संबंधी बहस का एक संतुलित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहा। प्रो. गौतम स्वच्छंदतावाद सम्बन्धी बहस पर हिंदी आलोचना द्वारा प्रतिपादित निष्कर्ष पर अपना विचार व्यक्त करते लिखते हैं कि-

१. हिंदी समीक्षा में स्वच्छंदतावाद की विवेचना का प्रमुख आधार पश्चिमी आलोचना ही है।

२. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, रामचंद्र मिश्र, पी. आदेश्वरराव आदि कई समीक्षक स्वच्छंदतावाद का उदय परंपरावादी साहित्य की प्रतिक्रिया में मानते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रवींद्र सहाय वर्मा, डॉ.देवराज उपाध्याय आदि कई अन्य समीक्षकों ने स्पष्ट रूप से स्वच्छंदतावाद को उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य के विशिष्ट आंदोलन के रूप में देखा है।

३. डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा तथा डॉ. मनोहरलाल गौड़ आदि समीक्षक इसे शाश्वत एवं सार्वभौम साहित्य-प्रवृत्ति मानते हैं।

४. कुछ आलोचक पश्चिमी स्वच्छंदतावाद के हिंदी छायावाद पर व्यापक प्रभाव को मानते हुए इसे छायावाद के रूप में ही व्याख्यायित करते हैं। डॉ. प्रेमशंकर व डॉ. त्रिभुवन सिंह इसी वर्ग के आलोचक हैं।'[२०]

छायावादी कवियों की कविताओं को पढ़ने के पश्चात 'छायावाद और स्वच्छंदतावाद' के प्रभाव संबंधी बहस के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि- 'राजनैतिक संदर्भ में यह काव्यांदोलन सामंतवाद को पराजित कर पूंजीवाद एवं व्यक्तिवाद की स्थापना में सहयोगी बनकर अग्रिम क्रांतियों की भूमिका प्रस्तुत करता है। हिंदी स्वच्छंदतावाद ने समस्त मध्यकालीन जीवन-मूल्यों में परिवर्तन उपस्थित कर उसकी प्रसार-रेखाओं को विश्व-साहित्य तक विस्तृत किया है। उल्लेखनीय यह है कि स्वच्छंदतावाद का निष्क्रिय पक्ष मानव की विवशताओं को उभारकर, उसके प्रति विषादपूर्ण चिंतन में लीन होना है, जबकि उसका सक्रिय पक्ष उत्साह एवं प्रगति का है। पंत के स्वच्छंदतावादी काव्य की उपलब्धि एवं सीमाएं इसी आलोक में स्पष्ट हो सकती हैं।'[२१] एक पाठक के रूप में इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि परवर्ती आलोचना में 'छायावाद और स्वच्छंदतावाद' के प्रभाव संबंधी बहस का एक संतुलित मूल्यांकन करने की कोशिश जिन पुस्तकों ने किया उनमें प्रो. राजेंद्र गौतम की पुस्तक 'सुमित्रानंदन

पंत का स्वच्छंदतावादी काव्य' एक महत्वपूर्ण कड़ी साबित हुई। सुधी पाठकों एवं शोधार्थियों को छायावाद एवं स्वच्छंदतावाद सम्बन्धी बहसों को समझने के लिए यह पुस्तक तार्किक एवं स्पष्ट दृष्टिकोण प्रदान करती है।

संदर्भ-सूची

१. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण -२०११, पृष्ठ- ४४४

२. यायावर, भारत (संपा.) महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण -२०१० पृष्ठ -८९

३. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण -१९८४, पृष्ठ -४६०

४. वाजपेयी, नंददुलारे, आधुनिक काव्य रचना और विचार, साथी प्रकाशन, मध्य प्रदेश, संस्करण- १९६ २, पृष्ठ -३६

५. निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी, परिमल (भूमिका) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -१९९१ पृष्ठ- ४

६. गिलबर्ट वाटर हाउस ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ जर्मन लिटरेचर, यूनिवर्सिटी ऑफ विसकॉनसिन प्रेस, लंदन, द्वितीय संस्करण-१९४७, पृष्ठ १०९

७. गौतम, राजेंद्र, सुमित्रानंदन पंत का स्वच्छंदता वादी काव्य, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ ६३

८. वर्मा, प्रमोद - अंग्रेजी की स्वछन्द कविता, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, संस्करण-१९७१, पृष्ठ ६४

९. Coleridge, S.T. Biographia Literaria-II, Oxford University Press, London (UK), 1967, p. 12

१०. Shepherd, Richard Herne (Ed.)- Prose Works of P.B. Sheòey, Chatto and Windus Publishers, London, 1888, p. 104

११. वर्मा, प्रमोद - अंग्रेजी की स्वछन्द कविता, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, संस्करण-१९७१, पृष्ठ- ११६

१२. गौतम, राजेंद्र, सुमित्रानंदन पंत का स्वच्छंदता वादी काव्य, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ- ७८

१३. वही, पृष्ठ- ७८

१४. वही, पृष्ठ -८२

१५. वही, पृष्ठ -७३

१६. वही, पृष्ठ -१६९-१७०

१७. वही, पृष्ठ -१७५

१८. वही, पृष्ठ -१२६

१९. वही, पृष्ठ -८१

२०. वही, पृष्ठ -५५

२१. वही, पृष्ठ -१७५

कुँवर नारायण के काव्य में मानवाधिकार

किरन राजभर

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
इविवि प्रयागराज

मानवाधिकार की संकल्पना कोई नयी बात नहीं है बल्कि हमारे साहित्य और चिंतन में सदियों से चलती आ रही, हमारे निरन्तर सभ्य होने की एक पहचान भी है। 'मानवाधिकार' शब्द द्वितीय विश्व युद्ध की देन के साथ पूरे वैश्विक स्तर पर अपनाया गया किन्तु हमारे यहाँ वैदिक काल से ही साहित्य और दर्शन के माध्यम से शील, आदर्श या मानवीय मूल्यों के रूप में निरन्तर प्रदान किया जाता रहा है। हमारे वेद, पुराण, उपनिषद आदि के द्वारा हमारी पूरी की पूरी संस्कृति ही मनुष्य के अधिकारों की रक्षा करती हुई विकसित हुई है। हांलाकि बाद में ये भी तमाम संकीर्णताओं का शिकार होती गई परन्तु प्रारम्भ में इसी दृष्टि से विकसित हुई थी। इस प्रकार मानवाधिकार और साहित्य का सदियों से घनिष्टतम् सम्बन्ध रहा है। साहित्य ही एक ऐसा उपकरण है जो हर एक नियम या कानून के असफल हो जाने के बाद भी मनुष्य में मनुष्यता की संभावना को बनाए रखने का प्रयास करता है। इस प्रकार साहित्य के द्वारा न सिर्फ मानवाधिकार की रक्षा होती है बल्कि व्यक्ति के कर्तव्यों को इंगित करते हुए निरन्तर दिशा निर्देश देने का महत्वपूर्ण कार्य साहित्य करता है। इस प्रकार मानवाधिकार और कर्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं। अपने-अपने कर्तव्यों के पूर्ण निर्वहन से मानवाधिकार की प्राप्ति स्वतः ही हो सकती है। मानवाधिकार वे नैतिक सिद्धान्त है जो मानव व्यवहार से संबन्धित कुछ निश्चित मानक स्थापित करता है। जिसमें समाज के हर एक व्यक्ति का कुछ मूलभूत प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होते है जो व्यक्ति को सहज, सुखी एवं स्वतंत्र जीवन के लिए आवश्यक होते हैं। इस प्रकार इसमें समूचा जीवन और समाज की व्यवस्था आ जाती है और साहित्य इसी जीवन और समाज को परिष्कृत व दिशा निदेर्शित करता रहता है।

साहित्य अपने वेबाकी के लिए सदा से ही प्रसिद्ध रहा है। 'संतन को कहाँ सिकरी' से लेकर 'अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे उठाने और गढ़ तोड़ने' तक अपनी साहस के लिए जाना जाता है। इन सब के बीच में तमाम विवादों और बहसों के बावजूद बड़े ही सहज, संयमित और बेबाकी के साथ कुँवर नारायण की प्रबंध काव्य एवं काव्य संग्रह अपने विशिष्ट एवं प्रौढ़तम भाषा शैली में अपने समय से संवाद करते हुए, व्यक्ति के अधिकारों की मांग एवं रक्षा करते हैं। 'आत्मजयी प्रबंध काव्य में नचिकेता के माध्यम से एक तरफ उसके पौराणिक संदर्भ में तो दूसरी तरफ अपने समकालीन तमाम आलोचनात्मक टिप्पणीयों के बीच में वे कहते है-

> असहमति को अवसर दो सहिष्णुता को आचराण
> कि बुद्धि सिर ऊचाँ रख सके.....

उसे हताश मत करो काइयाँ तर्कों से हरा - हराकर

अविनय को स्थापित मत करो
उपेक्षा से खिन्न न हो जाये कहीं
मनुष्य की साहसिकता
अमूल्य थाती है यह सबकी
इसे स्वर्ग के लालच में छिन लेने का
किसी को अधिकार नहीं....[१]

कुँवर नारायण के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि कथ्य भले ही पौराणिक किन्तु उसमें आधुनिक भाव बोध की क्षमता अद्भुत होती है। जो कुँवर नारायण के समकालीन परिस्थितियों से संवाद तो करती ही है आज भी उतनी ही सार्थक एवं प्रासंगिक ठहरती है, मनुष्य के व्यवहार और समाज में मानवाधिकार के लिए।

कुँवर नारायण अपने समय में एक अलग दृष्टि से साहित्य सृजन के लिए जाने जाते है। नई कविता के दौर में बहसों और विवादों के बीच में अत्यन्त ही शान्त एवं सौम्यपूर्ण ढंग से साहित्य के मूल दायित्वों का निर्वहन वे अपने महत्वपूर्ण व कालजयी काव्य कृतियों जिसमें चक्रव्यूह (१९५६), आत्मजयी (१९६५), अपने सामने (१९७९), कोई दूसरा नहीं (१९९३), वाजश्रवा के बहाने (२००८) इसके साथ ही इन दिनों, तीसरा सप्तक (सहयोगी कवि), परिवेश हम तुम आदि के द्वारा पूर्ण करते हैं। इन काव्य कृतियों में अधिकांश का आधार पौराणिक एवं एतिहासिक है। जिसमें कवि अपने गहन अध्ययन और सूक्ष्म काव्य दृष्टि के द्वारा उनके मूल मानवीय संवेदनाओं, मूल समस्याओं की जड़ को पकड़ते हुए आधुनिक युग में मनुष्य की जटिल मनः स्थितियों के रूप में उसके विभिन्न शाखाओं को बेहतर अभिव्यक्ति देने में पूर्ण सफल रहें हैं। कुँवर नारायण अपने सम्पूर्ण काव्य में मानवीय संवेदना और उसके अधिकार की सूक्ष्म एवं व्यापक स्तर पर विश्लेषण करते हैं और मानवीय मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं व्यक्ति को जो अधिकार दिए गए है (संविधान के द्वारा) उसके मूल में भी इन्ही मानवीय मूल्यों को महत्व दिया गया है जिसमें समानता, स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा का अधिकार को नागरिक, राजनीतिक और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक श्रेणियों में बांटा गया है। कुँवर नारायण की काव्य कृतियाँ इन सभी आधारों पर व्यक्ति के अधिकारों की अत्यन्त ही मार्मिक ढंग से साहित्यिक रूप में मांग करती हैं उनका मानना था कि 'साहित्य का जनवाद राजनीति के जनवाद से बहुत पुराना है' मुक्तिबोध ने कुँवर नारायण को जनतांत्रिक कवि कहा था। मंगलेश डबराल अपने लेख में कहते है 'दरअसल घोषित प्रगतिशील और मार्क्सवादी न होते हुए भी कुँवर नारायण की चेतना प्रगतिशील विवेक अन्तर्निहित है। इसलिए कह सकते है कि केन्द्रिय मार्क्सवादी चिंतन में भी आध्यात्मिक शब्द बहिष्कृत नहीं है। उनके सही संदर्भ वे मानवीय मूल्य हैं जिनके पूरे विश्वास की कल्पना समाजवादी व्यवस्था में की गई है।'[२]

आधुनिक भावबोध से युक्त सर्वकालिक प्रबंध काव्य आत्मजयी में नचिकेता का अपने पिता वाजश्रवा के हिंसात्मक, धार्मिक कर्मकाण्डों के प्रति विद्रोह करता है। इसके संदर्भ में कवि भूमिका में लिखते है 'नचिकेता और वाजश्रवा की असहमति न केवल नयी और पुरानी पीढ़ियों का संघर्ष है बल्कि उन वस्तुपरक वैदिक तथा आत्मपरक उपनिषद कालीन दृष्टिकोणों का भी प्रतीक है जिनका एक रूप हम अपने आज के जीवन में भी पाते है। एक ओर हमारी भयावह भौतिक उन्नति तो दूसरी ओर आत्मिक स्तर पर घोर असंयम जो इस भौतिक प्रगति को अपने लिए अभिशाप बना ले रहा है'

नहीं चाहिए तुम्हारा यह आश्वासन,
जो केवल हिंसा से अपने को सिद्ध कर सकता है
नहीं चाहिए व विश्वास जिसकी चरम परिणति हत्या हो
मै अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ
अपनी नास्तिकता में अधिक धार्मिक
अपने अकेलेपन में अधिक मुक्त
अपनी उदासी में अधिक उदार[३]

हिंसा की चिंता और उस पर संवेदना संपन्न चिंतन कुँवर जी का केन्द्रीय नैतिक, राजनीतिक सरोकार है। नैतिकता विहीन राजनीति हर वक्त को ऐसे मुश्किल वक्त में बदल देती है जो आदमी और जानवर में फर्क मिटा देते है। ऐसी अनेक कविताओं में व्यक्ति की ये चुप्पीभरी चीखें मानों मनुष्य होने की अपने अधिकारों की मांग करती हैं-

बुरा वक्त हो तो आदमी, आदमी नहीं रह पाता....
शायद उसी मुश्किल वक्त में
जब मैं एक डरे हुए जानवर की तरह
उसे अकेला छोड़कर बच निकला था खतरे से सुरक्षा की ओर
वह एक फंसे हुए जानवर की तरह
खुंखार हो गया था।[४]

अंहिसा दृष्टि उनकी समूची काव्य वस्तु में व्याप्त है लेकिन सर्वाधिक सघन, मार्मिक और विडम्बनापूर्ण अभिव्यक्ति उनकी चर्चित कविता 'एक अजीब सी मुश्किल' में हुई है।

अंग्रेजों से नफरत करना चाहता
जिन्होंने दो सदी हमपर राज किया
तो सेक्सपीयर आड़े आ जाते है
मुसलमानों से नफरत करने चलता
तो सामने गालिब आकर खड़े हो जाता.....[५]

इस कविता के बारे में पुरूषोत्तम दास अग्रवाल लिखते है 'कविता में दो सदी राज किया वाक्य साम्राज्यवादी व्यवस्था और सर्जनात्मक प्रतिभा के बीच फर्क कुँवर नारायण की चेतना में है... याद दिला देती हैं भारतीय स्वाधीनता संग्राम की मूलभूत प्रतिज्ञा, विरोध विदेशी राज से है विदेशी मनुष्य मात्र से नहीं... साथ ही इस कविता के अन्त में अपने व्यक्तिगत प्रथम प्रेमिका के धोखे को जो मुहावरे के खून के घुट को भी प्यार के घूट में बदल डालती है।'[६]

ऐसे कई स्मृति बिम्बों से कुँवर नारायण उस घृणा, साम्प्रदायिक का और क्रूरता के विरूद्ध एक विनम्र लेकिन सशक्त विमर्श बनाते है जो उनके समकालीन समाज में कई स्तर पर उनके चारों तरफ व्याप्त है।

मिथकों, प्रतीकों और इतिहास को अपने काव्य कृतियों में आधार बनाते हुए कुँवर नारायण अत्यन्त ही सजगता एवं आधुनिक भाव बोध के साथ सार्थक एवं अत्यन्त ही प्रासंगिक पहलुओं पर, मानवीय संवेदनाओं और ऐतिहासिक नायकों के साथ हुए अन्यायों को अपने समकालीन सरोकारों का चित्रण करते हैं। एक चर्चित कविता 'दिल्ली की तरफ' इस संदर्भ में आदिरूप मानी जा सकती है जिसमें दिल्ली जाने वाले घुड़सवारों के बीच बंधे हुए दो हाथ घिसटते हुए जाते हैं और यह पता नहीं चलता है कि वह कौन था क्योंकि पीछे बंधे हुए हाथ ही दिल्ली पहुँचते है।

इब्नबतूता, उस टीले तक, नीरों का संगीत प्रेम, शाहनामा, तुगलक इसी तरह की रचनों इनकी इतिहास दृष्टि के उदाहरण हैं जो शासक के सामने शासित की कहानी को दर्ज करती हैं। इतिहास और मिथकीय आवरण से निकालते हुए प्रसिद्ध काव्य चक्रव्यूह और आत्मजयी वर्तमान संदर्भ के यथार्थ को जांचते हुए संघर्षों के बीच अपने अधिकारों की मांग करते हैं।

मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ..
अपरिचित जिन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद,
मैं बलिदान इस संघर्ष में
कटु व्यंग हूँ उस तर्क पर
जो जिन्दगी के नाम पर हारा गया
आहूत हर युद्धाग्नि में
वह जीव हूँ निष्पाप
जिसकों पूजकर मारा गया
वह दर्द जिसको बेगुनाहों ने सहा
युग-युग से चला आता महाभारत[७]

१९७९ में प्रकाशित संग्रह 'अपने सामने' में कवि कुँवर जी अपने वैयक्तिक उत्कंठता से बाहर निकलते हुए आपातकाल के बाद व्याप्त दमनकारी तंत्र और लोकतांत्रिक संस्थाओं के मनमाने ढंग पर लिखते हैं-

वही शायद फिर आ गया है लौटकर
मेरे दरवाजे पर मुझे पुकार-पुकार कर जगाता हुआ
गुलामों और सुल्तानों का जमाना[८]

इसी प्रकार की उनकी अन्य महत्वपूर्ण कविताएं 'लाफता का हुलिया, इंतजाम, बर्बरों का आगमन आदि उल्लेखनीय है।

'कोई दूसरा नहीं' काव्य संग्रह में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ने अपनी उपभोक्ता वस्तुओं के साम्राज्य और मुक्त व्यापार के साथ प्रवेश किया इसके आस-पास ही भारत में साम्प्रदायिक ताकते राजनीतिक सत्ता के द्वारा अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विध्वंस पर मानवाधिकार को पूरी तरह रौंदने पर कवि विक्षुप्त होकर कह उठता है-

हे राम, अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं है
योद्धाओं की लंका है
मानस तुम्हारा चरित्र नहीं
चुनाव का डंका है[९]

इसी प्रकार लूट-पाट हिंसा अत्याचार और भ्रष्ट व खोखली सामाजिक कुचक्रों के यथार्थ को उजागर करते हुए निरन्तर ह्रास हो रहे मानवीय मूल्यों व अधिकारों पर चिंता व्यक्त करते हुए कवि कहते है-

कैसा अजीब वक्त है
कि कोई भी निहत्ता आगे नहीं बढ़ता
कोई बयान कोई सबूत देते डरता है कि कौन फसाये अपनी गर्दन
अपने हाथ भर हाथ के लिए....
सब परेशान है कि भयानक से भयानक
घटनों हो जाती है और पता तक नहीं चलता कि उसके पीछे
किसका या किस-किस का हाथ है[१०]

साहस और जद्दोजहद से भरे भ्रष्टाचारों से जूझते हुए अपने अधिकारों के हक की लड़ाई का एक मार्मिक चित्रण 'सम्मेदीन की लड़ाई कविता में कवि करते है-

खबर है
कि भ्रष्टाचार के विरुद्ध
बिल्कूल अकेला लड़ रहा है एक युद्ध
कुशहा गाँव का एक खब्ती सम्मेदीन....
बचाये रखना उस उजाले को
जिसे अपने बाद जिंदा छोड़ जोने के लिए
जान पर खेल कर
आज एक लड़ाई लड़ रहा है[११]

जल, जंगल, जमीन से बेदखल होते हुए आदिवासियों के अधिकारों की मांग को भी कुँवर नारायण नहीं भूलते है और अपनी कविता 'जंगली गुलाब' में लिखते है-

मुझे अपनी तरह खिलने और मुरझाने दो
मुझे मेरे जंगल और विराने दो
नहीं चाहिए मुझे किसी की दया
मुझे कांट-छांट कर
सभ्य मत बनाओ[१२]

इन विडम्बनाओं और विद्रुपताओं के बीच निरन्तर मनुष्य के अधिकारों के हनन के बावजूद कुँवर नारायण की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे अन्त तक अनेक संभावनाओं और उम्मीदों की ओर संकेत करती हैं-

कविता वक्तव्य नहीं गवाह है
कभी हमारे सामने
कभी हमारे पहले
कभी हमारे बाद
कोई चाहे भी तो रोक नहीं सकता
भाषा में उसका बयान
जिसका पूरा मतलब है सच्चाई
जिसकी पूरी कोशिश है बेहतर इंसान[१३]

इस प्रकार कुँवर जी की हर एक कविता मानवाधिकार की रक्षा करते हुए एक स्वस्थ एवं सुखी समाज की कल्पना करती है। कुँवर जी मानवाधिकार की रक्षा पूरे विश्व के मनुष्यों को लेकर करते है उनके यहाँ मानवाधिकार अपने समाज या राष्ट्र के सीमित दायरे तक ही नहीं रहता है बल्कि सेक्सपीयर, गालिब, सरहपा, खुसरो पूरे विश्व के धरातल पर फैला हुआ है और निरन्तर मानवीय मूल्यों की पूनर्स्थापना करने का प्रयास करता है।

संदर्भ सूची-

१. कुँवर नारायण-(१९६५), 'आत्मजयी', भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्लीः २५
२. मंगलेश डबराल-(२०१८), पूर्णतर मनुष्यता के कवि, ओम निश्चल (सं) 'अन्वय', राजकमल प्रकाशन, दिल्लीः १६५
३. कुँवर नारायण-(१९६५), 'आत्मजयी', २४
४. पुरुषोत्तम अग्रवाल (सं), (२०१६), प्रतिनिधि कवितों, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्लीः ९४
५. कुँवर नारायण-२०१४ (२००२), 'इन दिनों', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्लीः ९
६. पुरूषोत्तम अग्रवाल-(२०१८), जीवन से बड़ा एक सपना, ओम निश्चल (सं) 'अन्वय', राजकमल प्रकाशन, दिल्लीः १७४
७. कुँवर नारायण-(१९५६), 'चक्रव्यूह', राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्लीः ३
८. कुँवर नारायण-(१९७९), 'अपने सामने', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्लीः १५
९. कुँवर नारायण-२०२१ (२०१७), 'कोई दूसरा नहीं', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्लीः ७०
१०. वही, २३
११. वही, १८
१२. पुरुषोत्तम अग्रवाल (सं), (२०१६); ६०
१३. वही, १४५

●●

शिवपूजन सहाय की उत्कृष्ट संपादन कला

राजेश्वरी मौर्य

शोध छात्रा
हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज

संपादन से तात्पर्य पुस्तकों या समाचार पत्रों में प्रकाशित विषयों को संशोधित कर मुद्रण योग्य बनाना है। संपादन एक कला है। महत्वपूर्ण अग्रलेखों के माध्यम से जन चेतना को जागृत एवं गतिशील बनना संपादन कला आदर्श है। पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित विषयों का चयन व नियंत्रण करने वाला व्यक्ति संपादक कहलाता है। संपादक के पास संपादन के साथ-साथ प्रबंधन की भी जिम्मेदारी होती है। पत्रकारिता में दायित्वपूर्ण कार्य संपादक का होता है। लोकहित को ध्यान में रखकर सामाग्री की प्रस्तुति संपादन की पहली शर्त है। संपादक के दायित्व को स्पष्ट करते हुए बालकृष्ण भट्ठ नें लिखा-'शासन की प्रभु शक्ति में संपादकों की तृतीय श्रेणी है जो योग्यतापूर्वक सम्पादन का काम निबाहा जाय तो बङा नाजुक काम भी है इसमें बङी गम्भीरता पल्ले सिरे की योग्यता और युक्त-अयुक्त का विचार होना बड़ा आवश्यक है। स्वार्थत्याग और समभाव की जरूरत है 'न्यायात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीरा' इसका पूरा उपयोग सम्पादक के काम में ही देखा जाता है।'

संपादक जनहित की रक्षा का दायित्व लिए समाज का पद प्रदर्शन करता है। संपादक के महत्व पर प्रकाश डालते हुए जातीय पत्र 'क्षत्रिय पत्रिका' ने लिखा - 'सम्पादक अपने देश, राजा और साधारण का प्रतिनिधि है, इसलिए राजा को चाहिए कि उसका मान अच्छी तरह से करे और सम्पदक का भी यही काम है कि उसका है कि यथार्थ और सत्य-सत्य परामर्श राजा को देवे ऐसा करने से देशोन्नति भली-भाँति हो करती है। जो काम दस-बीस हजार रुपये पाने वाले मंत्री से चल सकता है वह काम योग्य सम्पादक से होता है।'

शिवपूजन सहाय ने अपने लंबे साहित्यिक जीवन में 'मारवाड़ी सुधार', 'माधुरी', 'गंगा', 'जागरण', 'हिमालय', 'साहित्य','आदर्श', 'मतवाला', 'मौजी', 'गोलमाल', 'उपन्यास तरंग', 'समन्वय', 'बालक' जैसी अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया, कुछ पत्रिकाओं में उनका नाम संपादक के रूप में नहीं छपा। दूर दृष्टि, उचित नियोजन शैली, व्याकरण और भाषा चयन की निपुण कला के कारण शिवपूजन सहाय हिंदी पत्रकारिता में उत्कृष्ट संपादन कला के लिए जाने जाते हैं। अपने कार्यकाल में उन्होंने निरंतर पत्रकारिता को नई दिशा देने का प्रयास किया। शिवपूजन सहाय ने देश के प्रति दायित्व बोध से हिंदी पत्रकारिता को विकसित कर एक समृद्ध परंपरा स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

संपादक लेखक की रचना को संशोधित कर मुद्रण योग्य बनाता है। प्रस्तुतिकरण की कला से वह पाठक के मन में पढ़ने की रुचि पैदा करता है। सहाय संपादन में संपादक का महत्व और दायित्व दोनों ही लेखक से ज्यादा समझते हैं। संपादक पत्रकारिता की 'बैकबोन' के रूप में कार्य करता है। एक लेख में संपादक की भूमिका को स्पष्ट करते हुए शिवपूजन सहाय लिखते हैं - 'संसार में

लेखक से अधिक सम्पादक का ही महत्त्व है। विगत युग के सम्पादक को लेखक के साथ-साथ पाठक भी पैदा करना था पर आज के सम्पादक को वह सब कुछ नहीं करना, केवल जनता के मन में सुरुचि पैदा करना है। जबतक जनसाधारण में सुरुचि पंछा होगी, तबतक सत्साहित्य का प्रचार नहीं बढ़ेगा। यह सुरुचि पैदा करने का काम लेखक से अधिक सम्पादक कर सकता है। इन काम में सम्पादक का उत्तरदायित्व लेखक से कहीं अधिक है। सम्पादक चाहे, तो जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठा सकता हूँ, और गिरा भी सकता है।'

पत्रकारिता के नैतिक आदर्शों की अनदेखी कर मात्र आर्थिक लाभ को महत्व देने वाले संपादक पत्रकारिता के लिए बड़ी चुनौती हैं। ऐसे संपादकों की बढ़ती संख्या की ओर ध्यान आकृष्ट कर लोगों को सचेत करने का प्रयास सहाय की दूरदर्शिता का दिखाता है - 'हिन्दी में कुछ ऐसे गैर-जिम्मेदार सम्पादक पैदा हो गये हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य है पैसा- जनता का चरित्रोत्कर्ष नहीं। उन ऐसे सम्पादकों को कुछ भ्रष्ट रुचि के लेखक भी मिल गये हैं। इससे निम्न कोटि के साहित्य का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है।'

संपादक पत्र-पत्रिकाओं में क्रमबद्ध रूप से सहज सरल मर्यादित शब्दों व स्पष्ट शैली में घटनाओं को पाठक तक पहुंचाने के लिए प्रतिबद्ध है। संपादकीय अग्रलेख, टिप्पणियां सारगर्भित विचार श्रृंखला प्रस्तुत कर प्रबुद्ध पाठकों में भविष्योन्मुखी चिंतन जागृति करते हैं। इसकी उपयोगिता तब और बढ़ जाती है जब कोई देश या समाज अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हो। देश के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अंतर्विरोध और आर्थिक विषमताएं आमजन को दिशाहीन कर देती हैं। ऐसे में संपादक पत्र-पत्रिकाओं में अपने अग्रलेखों, टिप्पणियों से देश का मार्गदर्शन करता है।

१९वीं सदी का भारत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्तर पर परिवर्तनों से जूझ रहा था। उस समय संपादकों ने पत्रकारिता के माध्यम से राष्ट्रीय प्रश्नों और अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं पर लेख, टिप्पणियां प्रकाशित कर जनता को निर्देशित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

शिवपूजन सहाय लंबे समय तक संपादकन कार्य से जुड़े रहे एक संपादक के रूप में उन्होंने अनेक समस्याओं का सामना किया अपने निजी अनुभवों के आधार पर शिवपूजन सहाय ने संपादकों की समस्याओं-कार्य का उचित वेतन व सम्मान न मिलना, अधिकतम लाभ की आकांक्षा में पत्र संचालकों द्वारा अपने मूल उद्देश्य से भटकाव जैसे कटु अनुभवों को व्यक्त करते हुए लिखा है- 'हिंदी पत्र-संसार में अधिकांश सम्पादक वेतनभोगी कार्यकर्ता हैं। वैतनिक कर्मचारी के समान उनके साथ प्रकाशक प्रायः दुर्व्यवहार करते हैं। कुछ ही सम्पादक ऐसे जो अपने पत्र के स्वामी या संचालक या सर्वेसर्वा हैं। ऐसे स्वतंत्र सम्पादक बहुत ही कम है। उनके अधिकारों का सवाल ही नहीं उठता।....मैं पिछले तीस वर्षों से देखते आ रहा हूँ कि हिंदी के पत्रसंचालक अधिकतर-पूँजीपति हैं और जो पूँजीपति नहीं हैं, वे भी पूँजीपति की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति के शिकार हो जाते है, सम्पादकों का वास्तविक का वास्तविक महत्व नहीं समझते, उनका यथोचित सम्मान नहीं करते, उनके अधिकारों की रक्षा पर ध्यान नहीं देते, उनकी कठिनाइयों को दूर करने के स्वप्न भी नहीं देखते।' इसलिए शिवपूजन सहाय संपादकों के अधिकारों का प्रावधान किये जाने की आवश्यकता महसूस करते हैं- 'अभी तक सम्पादकों के अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं तैयार हुई है और न कोई सीमा ही निर्धारित की गई है। किन्तु, साधारण रीति से यह स्वभावतः समझा जा सकता है कि सम्पादक अपने स्वास्थ्य और गौरव की रक्षा करते हुए पत्र को सुन्दर, आकर्षक उन्नत एवं लोकप्रिय बनाने के लिए जितने प्रकार के काम कर सकता है, सब उसके अधिकार के अन्तर्गत हैं। ..जो अपने उत्तरदायित्व और पद मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखता हो इसके तो अवश्य ही यथोचित अधिकार मिलने चाहिए।'

पत्रकारिता के मूल आदर्शों को दरकिनार कर आर्थिक लाभ को महत्व दे रहे संपादकों की संख्या में बढ़ोत्तरी एक गंभीर समस्या बनती जा रही थी। जब तक संपादक संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए आवाज नहीं उठाएंगे तब तक इस समस्या का हल मिलना मुश्किल है। देश की बदलती परिस्थितियों के बीच पत्रकारिता सामाजिक प्रतिबद्धता के बजाय संचालकों के निजी लाभ का विषय बनती जा रही थी इसी कारण स्वाभिमानी संपादक अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे। परंतु

कुछ स्वार्थी संपादकों के चलते सहाय को इस समस्या से चिंतित होकर लिखते हैं- 'जब तक सम्पादकों के अधिकार और मान की रक्षा न होगी तब तक पत्रों की उन्नति भी न होगी। मुझे आशा नहीं है कि अब हिंदी संचालक इतने उदार और सहृदय होंगे। पहले के सम्पादकों की तरह आज के सम्पादकों में स्वाभिमान भी नहीं है, क्योंकि देश की वर्तमान परिस्थितियों ने प्रत्येक व्यक्ति के आत्माभिमान को मुट्ठी में कर लिया है। इसलिए पत्र संचालकों की मनमानी तबतक चलती ही रहेगी, जबतक वेतनभोगी सम्पादकों में अपने अधिकारों के लिए लड़नें का साहस न होगा। इस साहस के लिए सामूहिक संगठन अपेक्षित है। किन्तु, सम्पादकों का संगठन और मेंढकों को तौलना एक सा है।'

स्वतंत्रता के पश्चात भी भाषा के आधार पर हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के साथ हो रहा भेदभाव शिवपूजन सहायक को खटकता है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के अथक परिश्रम के बावजूद स्वतंत्रता के पश्चात लोग हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी पत्रों पर अधिक विश्वास कर रहे थे। इस पर शिवपूजन सहाय लिखते हैं- 'यद्यपि देश के जागरण में, स्वतन्त्रता संग्राम में, राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता में और लोकमत को अनुकूल तैयार करने में हिन्दी पत्रों ने ही सबसे अधिक परिश्रम किया है, तथापि अँगरेजी के पत्रों का महत्व आज भी हिंदी पत्रों से अधिक समझा जा रहा है।'

लोगों में हिंदी भाषिक पत्रों के प्रति उपजे अविश्वास को शिवपूजन सहाय एक चुनौती की तरह देखते हैं। एक सजग पत्रकार की भांति वे पत्रकारों और संपादकों में काम के प्रति आयी निष्क्रियता के प्रति सचेत करते हुए उन्हें अथक परिश्रम कर लोगों का विश्वास पुनः जीतने की सलाह देते हैं- 'हमारा खयाल है कि लोकप्रियता और प्रचार-वृद्धि के लिए तथा अंग्रेजीदां लोगों के लिए हिन्दी के संपादकों और पत्रकारों को घोर परिश्रम करना होगा। सच तो यह है कि आज यदि वे वस्तुतः परिश्रम करते होते, तो अंगरेजी के मुकाबले उनका मोल न घटता। मोर्चे पर डटने के लिए जितनी क्षमता और सत्ता अपेक्षित है, उतनी तो उनमें होनी ही चाहिए। हिन्दी के कुछ पत्र आज भी अंगरेजी से टक्कर लेने योग्य हैं, कुछ सम्पादक और पत्रकार भी बराबरी में घार पर बटे रहने योग्य हैं; किन्तु अंगरेजी के सामने हिन्दी की जो हीनता हमारे अपने लोगों की नजरों में समाई हुई है, वही कंचन को काँच कर रही है।'

चुनौतियां व्यक्ति को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित करती हैं और आत्मुग्धता व्यक्ति को निष्क्रिय बना देती है। एक जिम्मेदार संपादक होने के नाते शिवपूजन सहाय स्वयं हिंदी पत्रकारिता की गुणवत्ता और विश्वसनीयता में आई कमी की पड़ताल कर नए संपादकों और पत्रकारों को अपनी पहचान पुनः स्थापित करने के लिए अधिक परिश्रम की सलाह देते हैं - ' हिंदी आज बहुत उन्नत हो गयी है। फिर भी उसमें स्टेटसमैन या अमृत बाजार पत्रिका या आनन्दबाजार-पत्रिका या नेशनल हेराल्ड के समान दैनिक नहीं है, एक भी उनमे जोड़ का नहीं है। न जाने व्यवस्था में दोष है या आर्थिक कठिनाई के कारण ऐसा होता है, कुछ कहते नहीं बनता। मासिक में भी और साप्ताहिकों में भी बाहरी तड़क-भड़क पर जितना ध्यान है उतना भीतरी सजावट और स्वच्छता तथा शुद्धता पर नहीं है।...किसी की लगन और सचाई में संदेह करना तो अनुचित ही होगा। फिर भी पत्रकारों को इस पर विचार करना चाहिए।'

भविष्य में हिंदी पत्रकारिता पर लोगों का विश्वास मजबूत करने के लिए शिवपूजन सहाय उत्कृष्ट संपादन कला की आवश्यकता महसूस करते हैं। वे वर्तमान संपादकों और पत्रकारों के निष्क्रिय व्यवहार पर चिंतित होकर लिखते हैं- 'मैं हिंदी की पत्रकार-कला के भविष्य में रंगीन सपने देखा करता हूं, पर उसके वर्तमान में मेरी विशेष श्रद्धा नहीं है। पत्रकार और सम्पादक एक से एक हैं, विद्वत्ता और अनुभव में यशस्वी है; किन्तु हिन्दी के पत्रों और पत्रिकाओं में बहुत ही कम ऐसे पत्र नजर आते हैं जिन्हें देखकर यह कहा जा सके कि सुसम्पादित और सुमुद्रित है।'

शिवपूजन सहाय प्रकाशित हो रही पत्र-पत्रिकाओं के प्रति बढ़ रहे अविश्वास के कारणों की पड़ताल करके पर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं की हिंदी पत्रिकाओं के संपादन में वह कुशलता नहीं रह गयी है जो उन्हें लोकप्रिय बनाने में सहायक हो। इसलिए वे संपादकों को संपादन में सुधार की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं- 'साधारण सी सामाग्री भी अगर सजी-सजाई, साफ-सुथरी और सुधरी-सांवली हो,तो वह अच्छी जंचती है। लेकिन बढिया

से बढिया मसाला अगर केते से सजा न हो सिलसिले से सजाया न गया हो - स्वच्छता व शुद्धता से छपा न हो, तो वह कोड़ी के मोल का भी नही जंचता। इसे कोई सहृदय साहित्यिक अस्वीकार नहीं कर सकता।'

भाषा, संकेतक चिन्ह आदि का व्यवस्थित प्रयोग पत्र-पत्रिकाओं की विश्वासनीयता बढ़ता है। अंग्रेजी पत्रों मे इन छोटी-छोटी बारीकियों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा था। शिवपूजन सहाय हिंदी संपादकों से भी इन बारीकियों को ध्यान में रखकर पत्रों के संपादन की सलाह देते हैं -'जिन पाठकों पर हिंदी-पत्रों का पूरा हक है, उनपर तो अँगरेजी-पत्रों ने धाक जमा रक्खी है; फिर हिन्दी- पत्रों की खपत बढ़ कैसे सकती है! अगर हम बढ़ाना चाहते हैं, तो हमें उनसे निश्चय ही मोर्चा लेना पड़ेगा। उनकी सुविधाओं और अपनी कठिनाइयों के बीच की गहरी खाई से खौफ खाने की जरूरत नहीं है, 'पोर्ट-आर्थर' के किले की इस खाई को तो किसी तरह पाटना ही पड़ेगा।'स्टेट्समैन' और 'पायनियर' के विज्ञापनों तक में अगर बिन्दु-बिसर्ग की गलती नहीं पाई जाती, तो हम भी क्यों न ऐसी चेष्टा करें कि हमारे हिन्दी-पत्रों में भी वैसी ही शुद्धता और स्वच्छता पाई जाय?'

हालांकि, सुसंपादन किसी भी पत्र के सौंदर्य को निखारता है परंतु इससे पत्रों की लोकप्रियता में बढ़ोतरी होती है। सहाय का यह तर्क उतना ठोस और स्पष्ट नहीं लगता। सहाय पाठकों के अंग्रेजी पत्रों पर अधिक विश्वास के कारणों की पड़ताल उतने सतही ढंग से नहीं कर पाए हैं। अंग्रेजी पत्रों की लोकप्रियता के पीछे लोगों की औपनिवेशिक सोच और हिंदी संपादकों द्वारा सूचनाओं की महत्ता के अनुसार उसकी क्रमबद्धता व आकलन शक्ति में अभाव प्रतीत होता है।

सहाय आगे संपादकों को सूचनाओं की महत्ता के अनुसार क्रमबद्धता का निर्धारण कर पत्रों को व्यवस्थित करने की सलाह देते हैं। साथ ही वे समय की मांग के हिसाब से प्रस्तुति की नई शैलियों, तौर तरीके संपादन में प्रयोग कर पत्र-पत्रिकाओं को व्यवस्थित करने की आवश्यकता को भी रेखांकित करते हैं- 'किंतु, जबतक हम समाचारों का श्रेणी विभाजन करना नहीं जानते सारे मैटर को अलग-अलग छाँटकर सजाने की चेष्टा नहीं करते, तबतक हम असफलता के भेड़-धसान में ही पड़े रहेंगे। फाँसी, षड्यंत्र, गोली, हत्या, डकैती, सभा-सम्मेलन, महत्वपूर्ण भाषण, महोत्सव, शोक, स्त्री हरण, दंगा, बाढ़, महामारी, अकाल, नवीन अविष्कार, अद्भुत समाचार, साहित्यिक और सामाजिक तथा धार्मिक जगत, चिट्ठी-पत्री, प्रश्नोत्तर, मनोरंजन, संकलन-उद्धरण, समालोचना, टिप्पणी - सब तरह के समाचारों और रोचक विषयों को यथास्थान सजाने का कौशल ही हमें सफलता की ओर अग्रसर कर सकता है।'

'प्रूफ रीडिंग' संपादन कला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यदि लेखों का प्रूफ संशोधन न तो कभी कभी लेखक द्वारा कही गई बात का मतलब बदल जाता है और पाठक और लेखक के मध्य अस्पष्टता आ जाती है। इसके अलावा राष्ट्रभाषा हिंदी की योग्यता और गौरव पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। सहाय एक ऐस विद्यालय की आवश्यकता महसूस करते हैं जिसमें पत्रकारिता को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाए और उसमें प्रूफ रीडिंग की कला की भी शिक्षा दिए जाय- खेद है कि हिंदी-संसार में अच्छे प्रूफ-शोधक बहुत कम नजर आते हैं। उनकी कमी से आज विद्वान लेखकों के उत्तम लेख और सुयोग्य सम्पादकों के सुंदर अग्रलेख भी फीके पड़ते दीखते हैं।....... सरल उपाय यह है कि प्रूफ-रीडरों को तैयार करने के लिए विद्यालय और परीक्षा का प्रबन्ध किया जाय। पत्रकार विद्यालय चाहे जब खुले, पहले प्रूफ-रीडिंग की कला सिखाने के लिए मुख्य केन्द्रस्थानों में संगठित प्रयत्न होना चाहिए। नहीं तो लेखकों और सम्पादकों का सारा परिश्रम निष्प्रयोजन एवं निष्फल होता रहेगा। इससे हिन्दी की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी संकटापन्न होगी।'

शिवपूजन सहाय क्लिष्ट से क्लिष्ट विचार उसकी महत्ता के साथ सरल, स्पष्ट भाषा में अभिव्यक्ति पत्रकारिता की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता व संपादक की अनिवार्य जिम्मेदारी मानते हैं। प्रकाशित टिप्पणियों, सूचनाओं से आम जनता जुड़ सके यही संपादक और पत्र पत्रिकाओं की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। इन गुणों के विकास के लिए सहाय पत्रकारों को बाकायदा शिक्षित करने की आवश्यकता महसूस करते हैं इसलिए वे पत्रकार विद्यालय स्थापित करने की सलाह देते हैं -'हमारे पत्रकार जो कुछ जन जागरण के लिए लिखें या छापें उसे जनता की समझ और ज्ञान सीमा के अनुकूल बना दें। मगर यह काम तभी

हो सकता है, जब हमारे होनहार पत्रकारों को देश की आवश्यकता के अनुसार यथोचित शिक्षा दी जाय। खासकर दैनिकों और साप्ताहिकों के लिए, जिनके द्वारा अधिकांश जनता के हृदय पर हम अपना सिक्का जमा सकते हैं, पत्रकार-कला-मर्मज्ञों की अत्यन्त आवश्यकता है। इस समय भी हिन्दी-संसार में पत्रकार-कला के कई अच्छे जानकार हैं; पर वे सुयोग्य सहकारियों के अभाव में जनता की यथेष्ट सेवा नहीं कर पाते। और, यह अभाव तबतक बना हो रहेगा, जबतक एक अच्छा पत्रकार-'विद्यालय स्थापित न होगा।

संपादकों की संपादन एवं मुद्रण में लापरवाही से राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए मुश्किलें उत्पन्न हो रही थी। शिवपूजन सहाय संपादकों की लापरवाही को अनिचित ठहराते हैं। आगे संपादक को इनमें सुधार करने की सलाह देते हैं - 'हम राष्ट्रभाषा के गौरव का ध्यान छोड़कर आर्थिक लाभ पर ही दृष्टि रखते हैं। जनता के पैसे का कोई महत्व नहीं, हमारा काम चालू रहना चाहिए। विज्ञापनों में न भाषा - भाव का खयाल, न लोकरुचि का, खयाल सिर्फ टके का रहता है। सम्पादन-सम्बन्धी त्रुटियों के लिए कई बने बनाये बहाने हैं - समय की कमीं, अनुवाद की कठिनाई, सुयोग्य सहकारियों की दुर्लभता इत्यादि। छपाई की अशुद्धियों के लिए भी सुन्दर टाइप और अच्छे प्रूफ रीडर का अभाव, नागराक्षरों की क्लिष्टता और सामयिकता, प्रकाशन की शीघ्रता इत्यादि! यह भी शिकायत कि खपत कम है। पहले काफी खपत हो ले, काफी पैसे आने लग जायें, तब सुन्दर और शुद्ध छपाई की व्यवस्था की जाय अच्छी चीज देकर काफी पैसे लेने की शर्त नहीं, काफी पैसे लेने के बाद अच्छी चीज देने की शर्त है, ये बातें राष्ट्रभाषा के हित में बहुत बाधा है।'

शिवपूजन सहाय के लंबे साहित्यिक जीवन में पत्रकारिता एक महत्वपूर्ण हिस्सा रही है। उन्होंने पत्रकारिता को मात्र सूचना का साधन न मानकर देश के कल्याण व प्रगति का महत्वपूर्ण अंग माना। वे पत्रकारिता के आदर्श, नैतिकता की सिर्फ बातें ही नहीं करते बल्कि उनका निजी जीवन इन्हीं आदर्श से संचालित रहा। वे पत्रकारिता के माध्यम से देश को जागरूक करने के साथ ही अपनी दूर दृष्टि से भविष्य में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के प्रति भी सचेत करते हैं। संपादन कला के महत्वपूर्ण पहलुओं शुद्धता, प्रूफ रीडिंग, सामग्री की सुनियोजित प्रस्तुति, स्पष्ट सरल भाषा आदि की अनिवार्यता को स्पष्ट कर संपादकों की सहायता की। इन सबके बावजूद सहाय की कुछ वैचारिक सीमों हैं। उन्होने जितना महत्व सूचनाओं को सजानें उन्हें आकर्षक बनाने, उनकी आकर्षक प्रस्तुति को दिया उतना महत्व संपादन के वैचारिक पक्ष को नहीं दिया।

संदर्भ

'हिन्दी-प्रदीप', दिसम्बर १९०६, 'राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता', डा. मीरा रानी बल, पृ.१२४

क्षत्रिय पत्रिका, १८८१ प्रथम उपक्रम, पृ० ५-६)

शिवपूजन - रचनावली, खंड- ४, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,पटना, पृ. ५६६

वही, पृ. ५६६

शिवपूजन- रचनावली, खंड-३, पृ-२६२

वही, पृ-२६४

वही, पृ-२६४

शिवपूजन- रचनावली,खंड- ४, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ. ५६८

वही, पृ. ५६९

शिवपूजन-रचनावली ,खंड-३,पृ.-३४०

वही, पृ.३४०

वही,पृ,-३२२

वही, पृ.३२३

वही,पृ.३२४

शिवपूजन- रचनावली, खंड- ४, पृ.४५८

वही, पृ.४४१

वही, पृ.४६३

वैश्विक परिदृश्य में रामायण का रामायणत्व

डॉ. बैकुण्ठ नाथ शुक्ल

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
ने.मे.शि.ना. दास पी.जी. कालेज,
बदायूँ (उ.प्र.)

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति का साक्षात् उपबृंहण है। आदि कवि वाल्मीकि का यह आदि काव्य उदात्त मानवीय मूल्यों एवं उच्च आदर्शों की पराकाष्ठा है। वैश्विक धरातल पर उदात्त मानवीय मूल्यों की रक्षा एवं जन-मानस के चरित्र निर्माण के लिए रामायण से बढ़कर और कौन ग्रन्थ हो सकता है, जो ज्ञानाम्बुधिकल्पकोविद्सम्मत और नैतिक आदर्शों से युक्त हो। किसी ने ठीक ही कहा है-

"will, may the Ramayan challenge the literature of every age and country to produse a poem that can boast of such perfect characters as a Rama or a Sita. Nowhere else are poetry and marality so charmingly united each elevating the other, as in this really holy poem"[1] *भाव यह है कि - 'वस्तुतः रामायण किसी भी युग और किसी भी देश के साहित्य को ललकार सकता है जो श्रीराम अथवा सीता के समान सर्वांङ्गीण चरित्रों या पात्रों पर गर्व कर सके। संसार के किसी भी ग्रन्थ में काव्य और नैतिकता का इतना सुन्दर सम्मिश्रण नहीं हुआ है, जितना इस पवित्र काव्य में।''*

आर्ष महाकाव्य श्रीमद्वाल्मीकि रामायण की वेदतुल्य प्रतिष्ठा है। वह भूतल का प्रथम काव्य है। इसका एक-एक अक्षर महापातक का नाश करने वाला है-''एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम्।'' और वृहद्धर्मपुराण में इसे समस्त विश्व के समस्त काव्यों का महाबीज कहा गया है। अस्तुसमस्त पुराणों एवं महाभारत के उद्घोषक वेदव्यास को उद्दिष्ट यह वचन प्रस्तुत है-

पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम्।
यत्र श्रीरामचरितं स्यात् तदहं तत्र शक्तिमान्।।'[2]

और वहीं व्यासजी भी अपनी सद्य सम्मति प्रदान करते हुए कहते हैं कि मैंने रामायण यथाविधि पढ़ लिया और अब मैं पुराणों एवं महाभारत की रचना में प्रवृत्ति होऊँगा–

''रामायणं पाठितं मे प्रसन्नोऽस्मि कृतस्त्वया।
करिष्यामि पुराणानि महाभारतमेव च।।'[3]

ऐसे सर्वोपजीव्य काव्यरस श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की कथावस्तु के परम आधार मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम का लोकोपकारी चरित्र किसी देश,

दिशा और काल में सीमित नहीं है। इस रामायण की मुख्य फलश्रुतिरूपी रामकथा विश्वोष्परमादिहेतु है। वाल्मीकीय रामायण का वैश्विक महत्व तो उसकी रचना के गर्भ में ही विद्यमान है। रामायण के प्रारम्भ में ही प्रचेता के दशम पुत्र तत्ववेत्ता महर्षि वाल्मीकि सर्व शास्त्रवित् नारायण प्रपन्न देवर्षि नारद से प्रश्न करते हैं, अपनी जिज्ञासा का समाधान चाहते हैं कि-

''कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।।''[4]

अर्थात् हे भगवन्! इस समय संसार में गुणवान्, शूरवीर, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी और दृढ़-प्रतिज्ञ कौन है? इस श्लोक के केवल एक पद 'लोके' में रामायण का वैश्विक महत्व पूर्ण-रूपेण कह दिया गया। उन्होंने 'देशे' नहीं कहा, राज्ये नहीं कहा, 'लोके' कहा। उन्होंने नारद जी से ऐसे विलक्षण चरित्र' को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की, सम्पूर्ण विश्व में विलक्षण एवं लोकाश्रय हो। तो, रामायण की विचार-भूमि में केवल लोकोत्थान का ही बीज बोया गया है और उस बीज से उत्पन्न महावृक्ष पर बैठकर वाल्मीकि-रूपी कोयल के मधुर कण्ठ से समस्त मानव-जाति को रामकथा रूपी परम रसायन से अनुप्राणित करना ही रामायण का रामायणत्व'' है। कितना व्यापक दृष्टिकोण है, महर्षि वाल्मीकि का, वह दैशिक और कालिक रूप से सीमित कैसे हो सकता है? पुनः महर्षि की जिज्ञासा भी किसके समक्ष है, साक्षात् देवर्षि नारद के प्रति जिनका तप और स्वाध्याय अत्यन्त उदात्त है। छान्दोग्योपनिषद् में स्वयं उनका कथन है–

''ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम, इतिहास-पुराणं पञ्चं, वेदानां वेदं, पैत्र्यं,राशिं, दैवं, निधि, वाकोवाक्यमेकायन, देवविद्यां, क्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविधाम्, एतद्भगवोऽध्येमि।''[5] *अर्थात्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इन चारों वेदों को जानता हूँ। इनके अतिरिक्त इतिहास, पुराण, (ब्राह्मण तथा कल्पादि) वेदो का वेद · व्याकरण और निरुक्त, पित्र्य · वायुविज्ञान, राशि · गणितविद्या, दैव · प्रकृति विज्ञान, निधि · भूगर्भविद्या, वाकोवाक्य · तर्कशास्त्र, एकायन · ब्रह्मविज्ञान, इन्द्रिय-विज्ञान, भक्तिशास्त्र, पञ्चभूतज्ञान, धनुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, सर्पविज्ञान, देवजन-विज्ञान, सर्पों को वश में करने वाली गन्धर्व विद्या को मैं जानता हूँ। इतना मैंने अध्ययन किया है।''*

ऐसे विलक्षण ज्ञान-विज्ञान से युक्त सर्वशास्त्रवित् नारदजी से की गयी जिज्ञासा कितनी उदात्त होगी, यह तो स्वानुभूत्येकमान ही है। देवर्षि नारद ने जिस चरित्र का गुणज्ञान अपनी दिव्यदृष्टि के प्रभाव से किया वह निश्चयप्रच लोकरञ्जक और सर्वभूतोपकारक था। माता-पिता का आज्ञापालन, सत्यवादिता, प्रतिज्ञा-पालन, दीन, दुर्बल एवं आश्रितों का संरक्षण, एकपत्नीव्रत, वर्णाश्रम-मर्यादा, आदर्श पातिव्रत, न्यायानुकूल आचरण, भ्रातृप्रेम, त्याग, उदारता, सन्ध्या, यज्ञ आदि गुणों के चित्रण से यह ग्रन्थ और इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम समस्त संसार के लिए परम-उपकारी बन गये है। हमारी इस विलक्षण संस्कृति और इसके गम्भीर वैश्विक प्रभाव से उद्वेलित होकर ही तो अंग्रेज कहा करते थे–

"If you want to destray a nation, destray its history and the nation will perish of its own accard," *अर्थात् यदि तुम किसी देश को समाप्त करना चाहते हो, तो उसके इतिहास को नष्ट कर दो, देश स्वयमेव नष्ट हो जायेगा।*

किन्तु हमारे सनातन धर्म की जड़े इतनी कमजोर नहीं हैं कि उन्हें कोई हिला सके। वेदों की तो बात दूर, आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण ही बहुत प्राचीन है। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता की प्राचीनता अभारतीयों द्वारा सुनिश्चित की गयी है। उन्होंने रामायण का समय ईसा से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व में ही सीमित कर दिया है। इनकी यह काल गणना सर्वथा भ्रान्त एवं पक्षपातपूर्ण है। भारतीय

विद्वान श्रीराम का जन्म त्रेता के अन्त में मानते है। इस प्रकार वे लोग धरती श्रीराम का जन्म और रामायण का समय नौ लाख वर्ष पूर्व स्वीकार करते है। परन्तु यह तर्क भी संगत नहीं लगता। वायुपुराण में उल्लेख है-

''त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात्।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमीयवान्।।''[6]

अर्थात् आचार से पतित होने के कारण रावण चौबीसवें त्रेतायुग में दशरथनन्दन श्रीराम के साथ युद्ध करके बन्धु-बान्धवों सहित मारा गया। इस श्लोक में श्रीराम का काल 24वाँ त्रेतायुग (वैवस्वत मन्वन्तर) बताया गया है। अद्यतन गणना यह है कि–

चौबीसवें त्रेता से 28वें त्रेता तक चार युग बीते जिनमें कि वर्ष हुए 43,20,000 ^{2} 4 · 1,72,80,000वर्ष · 8,64000वर्ष और कलयुग के वर्ष · 5,070वर्ष। कुल योग हुआ–

1,72,80,000
8,64,000
5,070
....
1,81,49,070 वर्ष
....

इस प्रकार श्रीराम का काल एक करोड़, इक्यासी लाख, उन्चास हजार, सत्तर वर्ष पूर्व ठहरता है। रामायण श्रीराम का समकालीन इतिहास है। जिस समय श्रीराम राजसिंहासन पर आसीन हो गये थे उस समय महर्षि वाल्मीकि ने अपने ऐतिहासिक आर्ष महाकाव्य की रचना की थी। अतः रामायण का समय भी इतना ही प्राचीन है। आधुनिक युग के वैज्ञानिकों को आज से तीन शती पूर्व चार दाँत वाले हाथियों का ज्ञान नहीं था। ये चार दाँत वाले हाथी आज से ढ़ाई करोड़ वर्ष से लेकर पचपन लाख वर्ष पूर्व तक अफ्रीका आदि में पाये जाते थे। प्राचेतस महर्षि वाल्मीकि तीन दाँत वाले और चार दाँत वाले हाथियों से परिचित थे। उन्होंने कहा है–

''वारणैश्च चतुर्दन्तैः श्वेताभ्रनिचयोपमैः।
भूषितं रुचिरं द्वारं मत्तैश्च मृगपक्षिभिः।।''[7]

अर्थात् (रावण के) जिस द्वार पर श्वेत मेघ के समान सुभूषित बड़े डील-डौल वाले सफेद चार दाँत वाले हाथी तथा प्रफुल्लित पशु और पक्षियों से शुशोभित था। इतने प्राचीन और आर्ष महाकाव्य की रचना कितनी लोकरञ्जक होगी, यह प्रमाण सापेक्ष नहीं है। दशम प्राचेतस महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामकथा के प्रसङ्ग में एक एक तथ्य अत्यंत वास्तविक और निभ्रन्ति है। उनके वर्णन में लेशमात्र भी अतिरंञ्जन नहीं है और न ही कहीं मिथ्या प्रलाप है। यह बात उन्होंने सीता की पवित्रता की साक्षी देते हुए स्वयं कहा था–

''प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दनः।
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्वषम्।।''

अर्थात् हे राम ! मैं प्रचेतस् मुनि का दशवाँ पुत्र हूँ। मैंने मन, वचन और कर्म से कभी पापाचरण नहीं किया है।' चिन्तन की ऐसी उर्वर और उदात्त भूमि में प्राप्त राम-रसायन सम्पूर्ण विश्व के भव-रोग के लिए कितना लाभकारी होगा, इसका अनुमान कर पाना भी असम्भव है। भगवान् श्रीराम जैसा उत्तम, गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवाक् और दृढ़व्रती चरित्र संसार में न हुआ था, न भविष्य में होगा। वैसे तो वाल्मीकीय रामायण का एक-एक अक्षर परम-पावन है तथापि कुछ ऐसे स्थल है, जो सम्पूर्ण विश्व के लिए नेत्र-निमीलक है। यथा श्रीराम द्वारा रावण-वध के पश्चात् उसके अन्तिम संस्कार में विभीषण अनिच्छा प्रकट करते हैं किन्तु भगवान् राम अत्यन्त सख्य भाव से उन्हें समझाते हैं-

'मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममप्येष यथा तव।।''

अर्थात् हे विभीषण! जब तक मनुष्य जीवित रहता है तभी तक उसके साथ वैर रहता है, मरने पर वेर भी समाप्त हो जाता है। यह मर चुका है और हमारा प्रयोजन भी पूरा हो चुका है, अब यह जैसा तुम्हारा

भाई था ऐसा ही मेरा भी है अतः अब तुम इसका सम्मानपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार करो, जो शास्त्रानुकूल भी है।''

यह राम का आदर्श ! जो सम्पूर्ण विश्व एवं मानवता के लिए मान-दण्ड के समान है। इस अत्यन्त लोकोपकारी आर्ष-काव्य को जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त और क्रोध से मुक्त होकर सुनता है, वह बड़ी-बड़ी आपत्तियों से पार हो जाता है (राम की आपत्तियाँ सुनकर उसे अपनी आपत्तियां तुच्छ जान पड़ती हैं।) अस्तु–

''श्रृणोति य इदं काव्यमार्षं वाल्मीकिना कृतम्।
श्रद्धानो जितक्रोधो दुर्गाप्यतितरत्यसौ।।''[8]

और भी यह काव्य आयु, अरोग्यता और यश को बढ़ाने वाला है। यह भाइयों में प्रेम उत्पन्न करने वाला और शुभप्रद है। सज्जनों को उचित है कि वे इस तेजोवृद्धिकर आख्यान को नियमपूर्वक पढ़ें। यथा–

''आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं
सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिः
आख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः।।''[9]

इस प्रकार सर्वतोन्मुखी विकास के परम हेतु इस रामकथारूपी महनीय काव्य रामायण की वैश्विक अवधारणा, अवदान एवं उपयोगिता का यहाँ यथामति वर्णन प्रस्तुत किया गया है। जिस दिव्य कथा का पार महर्षि वाल्मीकि से भी किञ्चित् परे रहा, उसे एक छोटे से शोध-पत्र में कह पाने की सामर्थ्य मुझ जैसे अल्पज्ञ में कहा सम्भव है। तथापि मैं महर्षि वाल्मीकि के प्रति इतनी श्रद्धा तो व्यक्त ही कर सकता हूँ, जिन्होंने सर्वजनोपयोगी इस विलक्षण महाकाव्य के माध्यम से राम-रसायन-रूप परम औषधि हम भव-रोगियों के लाभार्थ प्रस्तुत की। अस्तु–

''नमस्तस्मै कवीन्द्राय ऋषये वाल्मीकये पुनः।
यस्य रामकथा गुण्या सर्वभूतोपकारिणी।।''

(स्वकीय)

सन्दर्भ

1. Kalyane Kalptaru, April-*1959,इ=12*

2. वृहद्धर्मपुराण,प्रथम खण्ड 30/47, 51

3. वृहद्धर्मपुराण, 1/30/55

4. वा.रा.बा.का. 2/2

5. छान्दो 1. 7/1/2

6. वायुपुराण-70/48

7. रामा.सु.का.4/12

8. यु.का. 74/36

9. रामा. मु. का 74/37

चरण सिंह पथिक की कहानी 'पीपल के फूल' में पर्यावरण बोध

सोनू कुमार ठाकुर

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी, गाँधी परिसर बनकट, बिहार-८४५४०१
ईमेल- snuthakur@gmail.com
मोबाइल नंबर - ६२००३५२६१५

साल १९०१ में १० मई को भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीश चंद्र बोस ने साबित कर दिया था कि पेड़-पौधों में भी जीवन होता है। ऐसा उन्होंने क्रेसकोग्राफ के आविष्कार के जरिये किया। इस यंत्र की मदद से पेड़-पौधों पर किये जा रहे किसी भी बाह्य दवाब या आक्रमण के फलस्वरूप, उसकी प्रतिक्रिया रिकॉर्ड की गयी। इससे पता चलता है कि पेड़-पौधे भी सामान्य जीव-जंतुओं और हम मनुष्यों की तरह जीवन के हर पहलू को भोगते हैं उससे प्रभावित होते हैं। लेखक चरण सिंह पथिक अपनी कहानी 'पीपल के फूल' में बिल्कुल आरंभ में ही लिखते हैं - 'पेड़ उदासी और अवसाद में आकंठ डूबा था। उसकी शाखों और पत्तियां बदरंग हो चली थी। पत्तियों की शिरों पीली पड़ गई थीं।' इस तरह हम देखते है कि कॉर्पोरेट कल्चर का बढ़ता दवाब और भोगवादी जीवनशैली पृथ्वी और उसके संसाधनों के लिये लगातार खतरा बनती जा रही है।

उपर्युक्त पंक्तियों से अगर मनुष्य के व्यवहार की तुलना करें तो अस्तित्व के प्रश्न से जूझता हुआ कोई मनुष्य जिस तरह शोक और गम में डूब जाता है अपनी मरणासन्न स्थिति से घबरा जाता है ठीक वैसी ही स्थिति उस पीपल के पेड़ की है। भंडारया परिवार ने तय किया है कि अब इस पेड़ को काट देना चाहिये जो अनावश्यक रूप से बहुत जगह घेरता है। इसी बात से उस पीपल के पेड़ के सहारे (पारिस्थितिकी तंत्र के सभी घटक समूह) जिंदा रहने वाले कौवे, चील, गिलहरी, कबूतर, तोते, मोर, आदि अपने आगामी भविष्य को लेकर चिंतित हैं। पारिस्थितिकी तंत्र में किसी एक के न रहने से किस तरह दूसरे के जीवन पर संकट पैदा हो जाता है, पूरे तंत्र का संतुलन बिगड़ने लगता है, कहानी इसी समस्या को प्रमुखता से उठाती है। पृथ्वी पर जीवन का मूल आधार तो ये पेड़-पौधे ही हैं, इन्हीं पादप जगत से हमारा वायुमंडल इंसानों और जीव-जंतुओं के रहने लायक बना है। लेकिन दुर्भाग्य से पिछले कुछ सौ वर्षों में हुई अंधाधुंध पेड़ों की कटाई ने और उद्योग धंधों के अनियंत्रित विस्तार ने जिस कॉर्पोरेट कल्चर को बढ़ावा दिया है उसमें पैसों की भूख और मुनाफे के लालच ने एक ऐसी जीवनशैली का विकास किया है जिसमें हाशिये पर रहने वालों के लिये कोई जगह नहीं है। और सच पूछिये तो पेड़ से बड़ा हाशिये पर रहने वाला समूह और कोई नहीं। इस पर होने वाले अत्याचार की कहीं कोई सुनवाई नहीं होती है।

'हर कोई उदास और गमगीन था। कौए, तोते, मोर तथा कई किस्म के पक्षी अपने पंखों में गर्दन धँसाए अनवरत रोए जा रहे थे। अपने छोटे-से घोंसलों में नन्हें-नन्हें बच्चों को रोज नई-नई कहानी सुनाने वाली गौरेया आज नवजातों को अपने पंखों से छुपाए शिथिल पड़ी हुई थी। सुबह से किसी के मुँह में एक दाना तक नहीं गया था। वृद्ध पीपल की उदास कोंपलों ने दिलासा देते हुए उसे अपने आगोश में

छुपा लिया।'

इस कहानी में स्मृतियों के सहारे वर्तमान के भयावह यथार्थ को बड़ी बारीकी से लेखक ने प्रस्तुत किया है। एक तरफ बूढ़े पीपल की ढ़ेरों स्मृतियाँ हैं तो दूसरी तरफ भंडारया परिवार की एक बूढ़ी औरत की अपनी स्मृतियाँ हैं जो इसी पीपल के पेड़ से जुड़ी हुई है। दरअसल इस कहानी में लेखक ने समाज की उस नग्न सच्चाई को रेखांकित किया है जो हमारे सामंती परिवार और समाज की बुनियादी पहचान है। इस समाज में औरतें हमेशा से हर युग में उपेक्षित होती रही हैं। कभी कुल की मर्यादा के नाम पर तो कभी पुरुषों की नाजायज मांगों को न मानने या उनकी वासना-पूर्ति में बाधक बनने के कारण। इस पृथ्वी पर औरतों और वृक्षों की एक सी दयनीय स्थिति है। उनका जरूरत भर इस्तेमाल करना फिर मिटा देना अथवा नष्ट कर देना। वास्तव में जो सृजन का प्रतीक हैं या सर्जक की भूमिका में हैं उन्हें सबसे ज्यादा प्रताड़ित किया जाता है अपने समाज में। समाज इनके मूल्यों की लगातार अनदेखी करता आया है। इस कहानी में भी एक बूढ़ी औरत है जो अपने खानदान में उपेक्षित है। इस पीपल के पेड़ को कटने से बचाने के लिये उसने अपने पोतों के सामने खूब सारी मिन्नतें की। अकाल, बाढ़, सूखा जैसे भीषण समय में भी इस पेड़ की बदौलत ही अपने पुरखों के जिंदा बचे रह जाने की बातें याद दिलाई। यहाँ तक की इसी पेड़ से जुड़ी हुई उन सबकी भौगोलिक पहचान 'पीपलपुरा' के निवासी होने की दुहाई भी दी। लेखक चरण सिंह पथिक लिखते हैं -

'जिस वक्त हवा अपनी रौ में बही जा रही थी, ठीक उसी वक्त भंडारया परिवार की सबसे बूढ़ी औरत ने अपने कई अंग्रेजीदां पोतों से कहा, 'तुम्हें अपना फैसला बदल लेना चाहिये।' उसने पीपल की ऊंची फुनगी की और देखते हुए कहना जारी रखा, 'इसने जेठ की तपती दुपहरी में हमारी थकान को कई पीढ़ियों तक चूसा है।' वह अपनी स्मृति पर जोर देकर बोली, 'बहुत साथ दिया है इसने मेरे बच्चों! तुम्हें नहीं मालूम, तुम क्या करने जा रहे हो? इसी पीपल की बदौलत इस गाँव का नाम पीपलपुरा है। इसी की वजह से अपना गाँव दूर-दूर तक पहचाना जाता है। तुम्हारी वजह से नहीं है इस गाँव की पहचान!'

लेकिन उस बूढ़ी औरत को इस पेड़ का पक्ष लेने के कारण उसके पोतों द्वारा पागलखाने में भरती करवाना उतना ही जरूरी लग रहा था जितना उस पेड़ को काट देना। बूढ़ी औरत के पोते महानगरीय बोध से युक्त अभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिसका अपनी जड़ों से कट जाना और परंपरा आधारित मूल्यों का बहिष्कार करना ही आधुनिक होने की पहली शर्त मान ली गई है। ऐसी मूल्य-विहीन आधुनिकता केवल दिखावटी और फैशन-युक्त होती है जिसमें प्रेम, मानवता, दया, करुणा और मर्यादा जैसे मानवीय मूल्यों और संस्कारों का सर्वथा अभाव होता है।

कहानी में एक और स्त्री पात्र है जिसका रागात्मक संबंध उस पेड़ से है। उसका नाम सुरजो है। परिवार में वह अपने जेठ की कामुक-लोलुप दृष्टि से परेशान रहती है। वह बराबर अपनी वासना भारी निगाह सुरजो पर रखता है। इससे परेशान और आतंकित सुरजो इसकी शिकायत अपने पति और सास से करती है लेकिन पारिवारिक-मूल्यों के विघटन के इस दौर में एक स्त्री की बातों को गंभीरता से न लेना वाला ये अभ्यस्त सामंती-पितृसत्तात्मक समाज उसे लोक-लाज और खोखली मर्यादा के नाम पर अनसुना कर देता है। पति झिड़क देता है, सास ताने मारती है। इसके परिणाम बहुत भयावह होते हैं। वह बूढ़ा पीपल का पेड़ अपनी स्मृतियों पर जोर देते हुए याद करता है -

'बरसों पूर्व घटित वह दर्दनाक हादसा उसके ऊपर कलंक के रूप में इसी भंडारया परिवार ने साजिश के तहत थोप दिया था। उसे सुरजो का चकाचौंध कर देने वाला रूप और यौवन हमेशा ही रोमांचित करता रहा था। जब वह उसके आजू-बाजू के खेतों में उगी सरसों की फसल जो कि पीले फूलों से लदी होती थी, में चारे के लिये पीले पड़ चुके पत्ते तोड़ती तो वह उसे एकटक चुपचाप देखता रहता था।'

'सावन के महीने में सुरजो उसी की शाख पर

झूला डालकर जब राग मल्हार में कोई गीत गाती तो वह अपनी पत्तियों की आवाज के साथ ताल मिलाता था।'

'एक दिन जब सुरजो बाजरे के खेत में चारा काट रही थी तो उसका जेठ अचानक प्रकट हुआ। सुरजो ने दराँती कसकर पकड़ ली। कामुक और हिंसक आवाज में वह बोला, 'सारी जायदाद तेरे नाम कर दूँगा। मेरा बीज करामाती है।' थर-थर काँपती सुरजो घूँघट की ओट से कड़की, 'ऊँचे घरों की यही रीत है? भूल जाओ। मेरे हाँथ की ये दराँती कुछ भी करने से नहीं चूकेगी।'

'कुछ दिन बाद क्वार मास की वह काली-अंधेरी उमस भरी रात पीपल के पेड़ को ज्यों-की-त्यों याद है जब लुटी-पिटी सुरजो अपने मासूम बच्चे को छाती से चिपकाए उसके तने से लगकर देर तक मुख चूम-चूम कर रोती रही थी। वह रात उसकी जिंदगी की सबसे भयंकर रात थी। उसकी शाखों पर बैठे तमाम पक्षी और कोटरों में दुबके जीव सबके सब कितने रोए थे। देर तक बेटी की तरह सुरजो को अपने तने से चिपकाए एक बेबस बाप की तरह जीने के लिए हिम्मत देता रहा था। मगर सुरजो कुछ तय कर चुकी थी।'

लेखक ने सुरजो को अपने मासूम बच्चे के साथ कहानी में एक कुएं में कूदकर आत्महत्या करते हुए एक पेड़ के द्वारा देखे जाने का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। दरअसल दोनों की लाचारी और बेबसी (सुरजो बेसहारा और नाउम्मीद दोनों हो चुकी थी, जबकि पेड़ अपनी अवस्था में स्थिर होने के कारण उसे बस मौत को गले लगाते देखने को अभिशप्त था) एक जैसी थी। अब भी एक जैसी है। लेखक ने इसी नैरेटिव को पाठकों के सामने एक पेड़ का मानवीकरण करके उसके सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रस्तुत किया है कुछ इस तरह कि पढ़ते-पढ़ते हमारी आँखे नम हो जाती है। कहानी में आगे भंडारया परिवार और सुरजो का जेठ अपनी करतूत छिपाने के लिये इसे अलग मोड़ देता दिखलाई पड़ता है। पीपल के पेड़ पर भूतों का वास और किसी काली छाया को इस आत्महत्या को करने का जिम्मेदार मानते हुए आस-पास के सभी गांवों में ये अफवाह फैलायी जाती है कि 'भूतों का वास है इसमें....। इसे शीघ्र ही कटवा देना चाहिए....' फिर उसे 'भूतों वाला पीपल' के तौर पर दूर-दूर तक बदनाम कर दिया गया।'

गँवई समाज की विडम्बना ये है कि यहाँ शिक्षा का स्तर बेहद निम्न है। जातिवाद से ग्रस्त ये समाज भूख, गरीबी, गैर-बराबरी और लैंगिक भेदभाव के कारण अक्सर अंधविश्वास, जादू-टोना, झाड़-फूँक करने वाले मक्कारों के फेर में फँसा रहता है। यहाँ आज भी वैज्ञानिक चेतना और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त जानकारियों का नितांत अभाव है। इस वजह से यहाँ रहने वाले बड़ी आसानी से किसी के बहकावे में आ जाते हैं। भूत-प्रेतों की कहानियों में विश्वास करने लगते हैं। धर्म का जो विराट मानवीय स्वरूप है और उसका महान औदात्य भाव भी इन समुदायों में सिरे से नदारद है। इसलिए धार्मिक कर्मकांड और रूढ़ियों में यह समाज बहुत गहरे तक धँसा हुआ है इनके लिये ऐसे बेसिर-पैर की अफवाहों को सच मान लेना ही इनकी नियति है।

जबकि धार्मिक-आख्यानों और मिथकों में यहाँ तक की वैदिककालीन ऋचाओं में भी वनस्पतियों, द्रुम-लताओं, पीपल, आम, महुवा, तुलसी आदि के महत्व को रेखांकित किया गया है और इनके गुणों की महिमा गायी गयी है। डॉ. चम्पा सिंह अपने आलेख 'प्रकृति और मानव जीवन के विविध आयाम' में पीपल की महत्ता को रेखांकित करते हुए लिखती हैं - 'मानव जीवन पीपल, बरगद, तुलसी, आँवला, नीम, आदि वृक्षों को लोक धर्म की दृष्टि से शक्ति के परिचारक के रूप में देखता है। पीपल के पेड़ के नीचे जल चढ़ाना और दीप जलाना यहाँ की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। ऐसा माना जाता है कि पीपल पर जल चढ़ाने और दीप जलाने से बाधाएं व ग्रहों का प्रकोप दूर हो जाता है। साथ ही इसे पुत्रदाता भी माना जाता है। ऐसी किवदंती है कि इस वृक्ष की जड़ में ब्रह्मा, तने में विष्णु, और शाखाओं में शिव का वास है।

मूल ब्रह्मा, त्वचा, विष्णु, शाँखे रुद्र महेश्वर।
पत्रे-पत्रे देवनाम् वृक्षराज नमोअस्तुते।।

बुद्ध को इसी पेड़ के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ था,

इसीलिए इसे बोधिवृक्ष भी कहा गया। पीपल हिन्दुओं और बौद्धों में बड़ा पवित्र माना जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह सबसे अधिक मात्रा में प्राणवायु ऑक्सीजन छोड़ते हैं, इसकी जड़ वाली मिट्टी बड़ी उपजाऊ होती है।'

फिर आखिर ऐसा क्या होता है कि जिन वनस्पतियों, पेड़-पौधों को समाज मे पूजा जाता रहा। उनमें देवी-देवताओं का वास माना गया। भूमंडलीकरण के बाद के समाज ने उसे उपेक्षित कर दिया। उसकी जरूरतों को नकार दिया गया। इधर हाल के वर्षों में हुई पेड़ों की अंधाधुंध कटाई ने वनस्पतियों में सबसे गुणकारी इस पुरखे को महत्वहीन कर दिया है। अब अगर ये विलुप्त भी हो जाये तो किसी को विशेष फर्क नहीं पड़ेगा।

इसका सबसे प्रमुख कारण है इन पेड़-पौधों, जंगल-पहाड़ों, नदियों आदि पर से हमारी निर्भरता दिनों-दिन कम होती जा रही है। कृत्रिम उपादनों और बाजारू चीजों से हम अपनी जरूरतें पूरी करने लगे हैं। पेय-जल के लिये बहुत सारी मल्टीनैशनल कंपनियां आपस में प्रतिस्पर्धा कर रही हैं। आकर्षक बोतलों में बंद पानी पीने को हम मजबूर हैं क्योंकि भूजल-स्तर काफी नीचे जा चुका है। लेखक चरण सिंह पथिक इसके मूल कारणों में राष्ट्रीय राजमार्गों के निर्माण और महानगरों के अनियंत्रित विकास को जिम्मेदार ठहराते हैं। जंगलों, पेड़-पौधों, नदियों-पहाड़ों की कीमत पर ही इन सबका विकास संभव है। वे लिखते हैं - 'वृद्ध पीपल ने आसमान की ओर आँखे उठाकर देखा। वह महानगर को जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग से महज सौ मीटर दूर था और महानगर वहाँ से केवल बीस किलोमीटर दूर। उसने अपनी नजर महानगर को जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग पर डाली। चिकनी-चौड़ी सड़क के दोनों ओर अजीब किस्म के रोज बनते कृषिफार्म और दूर-दूर तक फैले ईंट-भट्ठों की चिमनियों से निकलता काला धुआँ नजर आया जो विशाल अजगर की तरह आसमान में रेंगता हुआ लग रहा था। किलोमीटर भर दूर उत्तर में वृक्ष विहीन पहाड़, फिर एक सूखा तालाब, नाला और तालाब की पाल पर खजूर के पेड़ों का क्षत-विक्षत झुरमुट तथा पास ही एक पुराना सूखा कुआँ था।'

उपर्युक्त वस्तुस्थितियाँ अब हमारे गांवों, शहरों, महानगरों की स्थायी पहचान बन चुकी है। आज की पीढ़ी का सौन्दर्य-बोध इन्हीं चीजों से निर्मित हो रहा है, कृत्रिमता को ही मौलिकता का पर्याय मानने वाला ये समाज प्रकृति के असली सौन्दर्य से अनजान है।

सौरमंडल में एकमात्र पृथ्वी ही ऐसी ग्रह है जिस पर जीवन संभव है। इस ग्रह के वायुमंडल में एक खास तरह की ओज़ोन परत है जो सूरज की हानिकारक पराबैंगनीं किरणों से हमें बचाती है। और सूरज की किरणों को परावर्तित होकर वापस जाने से रोकती है। सीधे तौर पर कहें तो यह किसी छाते की तरह काम करती है। इससे पृथ्वी गर्म रहती है जो की जीवन के लिये जरूरी है। लेकिन आज यही पृथ्वी जरूरत से ज्यादा गर्म हो रही है। वैज्ञानिक इसे ग्लोबल वार्मिंग का नाम दे रहे हैं। आजकल उत्तर भारत समेत पूरा विश्व एक तरह के हीटवेव का सामना कर रही है। वस्तुतः ऐसी जानलेवा गर्मी का भीषण प्रकोप हम मनुष्यों पर तो भारी पड़ ही रहा है। इससे सबसे ज्यादा प्रभावित वो जीव-जंतु हो रहे हैं जिनका कोई दोष नहीं है। सबसे बड़ा सवाल है ऐसा क्यों हो रहा है?

पेड़ों की अंधाधुंध कटाई, नदियों के प्राकृतिक बहाव से छेड़छाड़, पहाड़ों में अत्यधिक खनन, भूमि प्रदूषण, बढ़ते औद्योगिकीकरण से हवा की खराब गुणवत्ता, और पारिस्थितिकी तंत्र में छेड़छाड़ की वजह से खाद्य श्रृंखला में बंधे जीव-जंतुओं में असंतुलन के कारण ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं। समुद्र का जलस्तर निरंतर बढ़ रहा है। एक दिन ऐसा आयेगा जब पूरी पृथ्वी जलमग्न हो जायेगी। सवाल है जंगल की कटाई को कैसे रोका जाये! बढ़ते शहरीकरण ने और फसलों के लिये खेत की जरूरत ने जंगलों की कटाई को वैधता प्रदान की है। इस क्रम में पेड़-पौधे और जीव-जंतुओं के जीवन जीने के नैसर्गिक अधिकार को सबसे ज्यादा चुनौती मनुष्यों ने दी है। साहित्य में पारिस्थितिकी दर्शन पर व्यापक अध्ययन करने वाली डॉ. के. वनजा

इसके पीछे मनुष्य केंद्रित आधुनिक विकास को ही मूल कारण मानती हैं। वे लिखती हैं - 'पर्यावरण का नाश उपभोग संस्कृति की खतरनाक परिणति है। इसके कारण सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं आध्यात्मिक विचलन उत्पन्न होते हैं।' इसी विचलन का परिणाम है मनुष्य का प्रकृति से अलगाव। प्रकृति को दोयम-दर्जे का मान लेना और उसका जमकर दोहन करने में इन्हें कोई नैतिक परेशानी नहीं होती। इसी कारण के. वनजा भौम सदाचार की बात करती हैं। 'भूमि का यथार्थ अधिकारी कौन है?, क्या यह भूमि मनुष्य मात्र के लिये है?, भूमि के जैव एवं अजैव सत्ता को भी यहाँ अधिकार है या नहीं? इन सभी पर केंद्रित है भौम सदाचार।'

कहानी के अंत में जब पीपल के पेड़ का अंत हो रहा होता है। लेखक के ही शब्दों में उसका वर्णन देखिये- 'पचासों तमाशबीनों की उपस्थिति में पेड़ को काटना शुरू कर दिया गया था। शक्तिशाली मशीनी आरियों द्वारा सबसे पहले उसकी विशाल मोटी-मोटी शाखएं काटी गईं। शाखाएं रो-रो कर दर्दनाक चीत्कार करती हुई जमीन पर ज्यों ही गिरती, नीचे खड़ा मजदूरों का दूसरा दल उन पर भूखे भेड़ियों की तरह हाथ से चलने वाली छोटी-छोटी आरियाँ, और कुल्हाड़ियाँ लेकर टूट पड़ता था। पलों में उसे छोटी-छोटी लकड़ियों में तब्दील कर हाथों-हाथ ट्रक में लाद दिया जाता। दूर अलग-अलग पेड़ों पर बैठे पक्षी उसका काटा जाना बेबस होकर देख रहे थे।' मनुष्यों की बिरादरी से बाहर ऐसे जीव समूह केवल ऐसे मौकों पर बेबस ही हो सकते हैं। लेखक ने उनके मूक प्रतिरोध को बखूबी दर्ज किया है। कहानी का शीर्षक ही मनुष्य की अपनी बनायी व्यवस्था और जीवन-शैली पर व्यंग करती जान पड़ती है। दरअसल पीपल के पेड़ पर कोई फूल नहीं लगता। विकिपीडिया के अनुसार बरगद और गूलर वृक्ष की भाँति इसके पुष्प भी गुप्त रहते हैं अतः इसे गुह्यपुष्पक भी कहा जाता है। लेखक भी लिखते हैं - 'बहरहाल यह किवदंती गाँव-गाँव खूब सुनी जाती है कि आज तक किसी ने पीपल के फूल नहीं देखे।' कहानी के बिल्कुल आखीर में उस शोक-संतप्त बूढ़ी औरत को अपने आँचल में पीपल के फूल और साथ में उसके बचे-खुचे पत्ते, लकड़ी के टुकड़े, छीपटे आदि को गाँव से बाहर ले जाते देखा गया। ऐसा माना जाता है कि वह अपने अंतिम पुरखे के फूल गंगाजी में प्रवाहित करने गई है। यह उस बूढ़ी औरत के इस पेड़ से लगाव, प्रेम, और रागात्मक-संबंध को दर्शाती है। आज के घोर भौतिकवादी युग में जहाँ सब कुछ का संबंध अंततः मुनाफे की संस्कृति पर टिका है ऐसे संबंधों का मिल पाना कठिन है। तभी तो लेखक कहते हैं - 'इस जमाने में न तो ऐसी कोई बुढ़िया हो सकती है और न ही ऐसा कोई पीपल का पेड़।'

आज के मनुष्य की जीवन-शैली जो भोग पर आधारित है पीपल के फूल की तरह प्रत्यक्ष दृश्यमान न होकर उसके हर-एक क्रियाकलापों, संबंधों, भावनाओं में संलग्न है सम्मिलित है। कहानी रिपोतार्ज शैली में है। एक पेड़ खुद अपनी कहानी सुना रही है। नैरेटर की भूमिका में वह पीपल का पेड़ अपनी स्मृतियों के सहारे अपने अतीत और वर्तमान की कथा खुद कह रही है। इस कथा के क्रम में ही मनुष्यों की कथाएं भी साथ-साथ चल रही है। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है इसका कथा नायक एक पीपल का पेड़ है जो अपने उदात्त प्राकृतिक गुणों से युक्त है। मनुष्यों की तरह का छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष उसमें नहीं है। उसने सैकड़ों जीवों, पक्षियों को रहने के लिये अपनी मजबूत शाखाएं और पत्तियाँ दी हैं। कहानी में अभिजात्य वर्ग के भोगवादी जीवन-शैली के समानांतर एक-दूसरे के परस्पर सहयोग पर आधारित प्रेम और करुणा से युक्त जीवन-शैली को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कहानी अपने आशय और अभिप्राय में पर्यावरण के प्रति हो रहे अन्याय और शोषण को पूरी सजगता से पाठकों के सामने रखने में सफल होती है। लेखक चरण सिंह पथिक की कहानी 'पीपल के फूल' में एक बूढ़े पीपल के काटे जाने की और उस पर निर्भर विभिन्न पक्षियों और जीवों के बेसहारा हो जाने की मार्मिक कथा दर्ज है। जिसमें एक गाँव की पहचान (भौगोलिक) इस पेड़ को कैसे विकास और आधुनिकीकरण के नाम पर काट दिये जाने का फैसला

लिया जाता है। इस पेड़ की नियति तय हो चुकी है। एक निश्चित समय पर इसकी हत्या कर दी जायेगी। इस कहानी में स्मृतियों के इतिहास के जरिये परंपरा और आधुनिकता के बीच के अंतर्विरोध को दिखाया गया है। दिखावटी आधुनिक भाव-बोध और भोगवादी जीवन जीने की आदी ये पीढ़ी हर चीज में मुनाफा खोज लेती है। एक पेड़ जो जीते-जी साफ हवा, फल-फूल, पत्तियाँ देती है वही मरने के बाद भी अपनी कीमती लकड़ियाँ छोड़ जाती है जिसे बेचकर मनुष्य मुनाफा कमाता है। यह कहानी 'एक पेड़ के होने से ही हमारा होना है' को प्रमुखता से रेखांकित करती है।

संदर्भ सूची -

पथिक, चरण सिंह.(२०२०). दो बहनें. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या - ९४

वही. पृष्ठ संख्या - ९८-९९

वही. पृष्ठ संख्या - १००

वही. पृष्ठ संख्या - १०३-१०४

वही. पृष्ठ संख्या - १०४

वही. पृष्ठ संख्या - १०५

वही. पृष्ठ संख्या - १०६

वही. पृष्ठ संख्या - १०६-१०७

पाण्डेय, रतनकुमार,(सं.).(२०१९, अप्रैल-सितंबर). अनभै. अंक : ६२-६३, मुंबई. पृष्ठ संख्या- १५

पथिक, चरण सिंह.(२०२०). दो बहनें. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- ९९

वनजा, के.(२०११). साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन. नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या - ११

वही. पृष्ठ संख्या - १३

पथिक, चरण सिंह.(२०२०). दो बहनें. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या - १०९

वही. पृष्ठ संख्या - ११०

वही. पृष्ठ संख्या - ११०

●●

समकालीन परिस्थितियाँ और संजीव की 'अपराध' कहानी

धर्मवीर सिंह

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो.- ९८९९७७४७४७
इमेल- kumardharm30595@gmail.com

सत्ता और व्यवस्था समाज में शांति स्थापित करने के लिए बनी है, किन्तु कुछ लोग अपने निजी स्वार्थ हेतु हर समय में इनका दुरुपयोग भी करते हैं। आज भी हम ऐसा ही माहौल अपने आस-पास देखते हैं। चुनाव के दौरान हर पार्टी खुद ने क्या अच्छा या बुरा किया, इसके बजाय दूसरी पार्टी के लोगों ने क्या बुरा किया इसकी चर्चा ज्यादा करते हैं। ठीक इसी तरह व्यवस्था काम करती है, कौन गलत, कौन सही से परे किसका पक्ष लेने में उनका निजी फायदा है। इस पर अधिक गौर करते हैं। जहाँ दोनों पक्ष गरीबों के हो, वहां इनके पास न्याय करने का समय ही मुश्किल से निकलता है।

एक कहानी के जरिये पूरे सत्ता और व्यवस्था के वातावरण का जीवंत चित्र खींचा है कहानीकार ने पस्तुत कहानी में हम देखते हैं, कि कैसे सत्ता और व्यवस्था के वे संस्थान जिनका निर्माण समाज में शांति और न्यायिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए किया गया था, वे ही आम जनता का व्यवस्था से मोह भंग कर रहे हैं। जिसके पास पैसे की ताकत है, सत्ता की ताकत है, उसके लिए अपने हक में न्यायधीश का निर्णय भी बदलवाने में कोई देरी नहीं। आम आदमी के जीवन के समय और खुशियों की इनकी निगाहों में कोई कीमत नहीं है। शचिन के पिता अपने निर्दोष पुत्र-पुत्री को जेल की दीवारों के बाहर देख पाने की ख्वाहिश लिए हुए ही समाज को अलविदा कह गये। अदालत में छोटे-छोटे मामलें कई सालों तक अटके रहते हैं, असल में हमारे समाज में अपराधियों की पहुंच इतनी है, कि न्याय दिलाने या न्याय करने से पूर्व ही सत्ता और व्यवस्था की गठ-जोड़ में आम आदमी पिसता रहता है। दरअसल सत्ता अपने विरोध में कोई हाथ खड़ा देखना नहीं चाहती भले ही वह सही हो या गलत, चूँकि सत्ता के दबाव या लालच में व्यवस्था के कुछ अधिकारी आ ही जाते है। परिणाम स्वरूप जो निर्दोष है व्यवस्था उन्हीं को डरा रही है। कहानी में इस तथ्य को देखा जा सकता है शचिन का सच बोलने पर भी पीटा जाना। कहानी से अलग हटकर भी ऐसे उदाहरण समाज में कम नहीं है।

किसी हस्ती के सम्बन्ध में लिखने के लिए हमेशा कुछ न कुछ बचा रहता है और फिर संजीव जैसी शख्सियत पर लिखना या उनकी लिखी हुई रचना को व्याख्यायित करना स्वयं समन्दर को किनारों में बांधने जैसा है। मैं स्वयं को अबोध जानकर वरिष्ठ आलोचक 'मैनेजर पाण्डेय' के शब्द यहां उद्धृत करता हूं - 'विमर्श की इस बहुआयामी प्रक्रिया में संजीव हर तरह के अन्याय, अत्याचार तथा अतिचार के विरोधी हैं और अग्रगामी, न्यायसंगत तथा मानवीय दृष्टिकोण के पक्षधर हैं'

चूँकि जिनका व्यक्तित्व ही अन्याय के अन्धकार के विरुद्ध मशाल की भांति जलता हो उनकी रचना धर्मिता के सम्बन्ध में संदेह का लेशमात्र भी नहीं रह जाता है। इनकी रचना के सम्बन्ध में इनके समकालीन हिंदी के महत्वपूर्ण कथाकार 'संजय' के शब्दों में कहूँ तो - 'अभीष्ट विषय पर रचना का एक ड्राफ्ट यह पूरा कर लेगा। फिर हम कुछ मित्र किसी दिन बैठक करेंगे। यह अपनी लिखत सुनाएगा... हम जमकर खिंचाई करेंगे... यह एक-एक नुक्स नोट करता

रहेगा। दुबारा लिखकर कुछ असाहित्यिक आदमियों को सुनाएगा- कथा-रस और सम्प्रेषणीयता की परीक्षा के लिए... फिर कभी तिबारा, कभी-कभी तो चार-पांच बार भी यह अपने उपन्यासों को भी कई बार रिराईट करता है।'

समकालीन कहानीकारों में संजीव एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, इनकी कई कहानियां हमारे समक्ष आ चुकी है। जिसमें 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', 'किस्सा एक बीमा कंपनी का', 'तीस साल का सफरनामा', 'ख़ामोशी', 'अपराध' आदि। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए संजीव की 'अपराध' कहानी बहुत प्रासंगिक है। इस कहानी में राजनीति, न्यायिक व्यवस्था व सामाजिक स्थितियां एक साथ मिलकर, कैसे आम आदमी को न्याय के नाम पर भरमा रही है। कभी इस द्वार, कभी उस द्वार घुमाया जा रहा है, जनता को सच्चाई और न्याय से परे, किसी भी स्थिति में मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया गया है। ऐसी विकराल परिस्थितियों को देखते हुए संजीव का 'अपराध' जैसी कहानी लिखना लोकपक्ष में खड़ा एक मजबूत हाथ समझना चाहिए। स्थितियां इस हद तक आम आदमी को जकड़े हुए हैं, कि इसमें इमानदार व्यक्ति का चुप रहना ही ठीक समझा जाता है। क्या अमीर और क्या ग़रीब, सब पर स्थितियां काबिज हैं।

प्रस्तुत कहानी में कहानी के वाचक और नायक भिन्न-भिन्न हैं हालाँकि दोनों में गहरी मित्रता है, दोनों मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, वाचक शायद अधिक प्रभावित है। कहानी का वाचक जोकि प्रभुवर्ग का है, वह भी यथार्थवाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उदाहरण के रूप में कहानी का अंश- 'इस बीच 'खतम करो' अभियान चल निकला दो-एक बार वह मुझे भी उत्तरी बंगाल के गरीब किसानों के बीच व्यवस्था से मोह भंग कराने के उद्देश्य से ले गया, हड्डियों पर मढ़े हुए चाम, धसी पनिली आँखें- मैले चिथड़े शोषण की जड़ तक देखती हुई मेरी दृष्टि पारदर्शी हो उठी थी। अगर मैं नक्सल नहीं हुआ तो संघमित्रा की वजह से...।'

चूंकि वाचक प्रभुवर्ग का है अतः उसकी परवरिश ऐसे माहौल में हुई है, जहां शोषितों को केवल आश्वासन ही दिया जाता है। इस कहानी के सन्दर्भ में 'विश्वनाथ त्रिपाठी' के शब्द इस प्रकार हैं -'अपराध कहानी में एक दुविधा है। वाचक नायक के संपर्क में आकर क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित होता है। वाचक सम्पन्न एवं प्रभु वर्ग का है। उसके पिता जज और बड़े भाई पुलीस अफसर हैं। क्रांतिकारी (नक्सली) नायक शचिन वाचक का सहपाठी है। मार्क्सवाद से प्रभवित वाचक और शचिन दोनों हैं किन्तु शचिन का ज्ञानात्मक संवेदन सकर्मक है जबकि वाचक का अकर्मक।'

आपने अक्सर अपने आस-पास कहते सुना होगा कि देश में बहुत आतंक बढ़ गया है, या देश के हालात बहुत ख़राब है एक बार फिर से भगत सिंह को जन्म लेना चाहिए, लेकिन उनमे से कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा की भगत सिंह उसके घर में ही जन्म ले। ठीक वैसी ही स्थिति वाचक के घर की भी है। वाचक के पिता और भाई दोनों ही ऐसे पदों पर हैं जहाँ हर रोज सत्यमेव जयते या कानून में विश्वास रखो या वंचितों का सहारा बनों ऐसी बातें गूंजती रहती है। इसके बाद भी परिवार के लोग वाचक को अपनी ही कही बातों पर अमल नहीं करने देते। जैसे-जैसे वाचक के परिवार के लोगों को वाचक की मानसिक स्थिति का भान होता है। वाचक को तरह-तरह की धमकियां देने लगते हैं और जब धमकियों से काम नहीं चलता तो अंततः 'अपराध' के क्षेत्र में शोध कार्य करने का प्रलोभन देकर उसका ध्यान हटाया जाता है। इसमें भी वाचक के पिता की प्रतिष्ठा के कारण वाचक को बहुत अधिक मेहनत नहीं करनी थी। यहां वाचक और विभागाध्यक्ष की वार्ता देखिये-

'इस पर साइन कर दो'- 'वे बोले (सोसियोलोजी के विभागाध्यक्ष) यह क्या है?

'तुम्हें शोध करने की अनुमति देने के लिए दखवास्त मेरे गाइडेंस में।

लेकिन ... ! मैं उलझन में पड़ गया।

'बिना वजह तुम माथापच्ची कर रहे हो। विषय तुम्हारे परिवार के लोग रोज ही मथा करते हैं, तुम्हें बस इतना करना है कि पुरानी थीसिस देख-सुनकर कुछ नए डेटास जोड़कर लिख डालना है।

कौन सा विषय था?

'क्राइम'

बहुत हद तक वाचक को भी इस बात का भान हो जाता है और कहानी का वाचक (सिद्धार्थ) स्वयं आत्मविश्लेषण करते हुए कहता है- 'ऐसा लगता है मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध कुछ इतर, कुछ विशिष्ठ बनाने का षड्यन्त्र चल रहा है।'

हमारे समाज के नैतिक मूल्य और व्यावहारिक मूल्य भिन्न-भिन्न है। प्रायः सभी लोग चाहते हैं कि हमारे बच्चे देश के अच्छे संस्थानों में पहुंचे, जैसे ही उनके सपने साकार होने लगते हैं, एक बार भी शायद फिर कोई मुड़कर नहीं देखता कि हमारे बच्चे अपने नैतिक मूल्यों का निर्वाह कर रहे हैं या नहीं। इसी कारण जो जितनी मेहनत करके या घूस देकर पहुंचता है वह उतना ही भ्रष्ट होता जाता है। कहानी में वाचक आत्मचिंतन करता है- 'अपराध का रूप अमानवीय

व्यवस्था में क्या हो गया है। अपराध को रोकने वाले संस्थान न्यायलय, पुलिस, जेल अपराधकर्मी हो गए हैं। राजसत्ता और उसके करण-उपकरण अपराधकर्मी एवं अपराधकर्मियों के संरक्षक बन गए है, इसका विरोध करने वाले मारे भी जाते हैं, और अपराधी भी घोषित किए जाते हैं।'

इसी तथ्य को पुष्ट करने के लिए कहानी में संघमित्रा का कथन महत्वपूर्ण है -जे जाये लौंका, सोई होये रावोन! (पूरी कहानी का मूल बिंदू संघमित्रा)

सत्ता और व्यवस्था का सम्बन्ध आम आदमी को स्वतंत्र रूप से सोचने का भी अधिकार न दे, तो भी कोई बड़ी बात नहीं है। जिस व्यवस्था में एन.एस.ए. के तहत ४१ लोगों को गिरफ्तार किया, जिसमें डॉ. कफील खान भी शामिल थे। उन्हीं ४१ लोगों में से १९ लोगों को न्यायालय ने बरी कर दिया, लेकिन यह महज गिरफ्तार होने के २ दिन, ३ दिन, या १ महीने में नहीं हुआ, पूरे ६ माह लगे, जिसमें कुछ लोगों को लगभग २ वर्ष भी लगे, इमानदारी से अपना काम करने वाले डॉ. कफील को व्यवस्था के चंगुल से निकलते-निकलते २ वर्ष लग गये। इस बीच उनकी व उनके परिवार की कितनी बेइज्जती हुई, कितनी ज़िल्लत उठानी पड़ी इसका तो कोई हिसाब ही नहीं है। (१० अगस्त २०१७ से २७ सितम्बर २०१९ तक जेल में रहे)

हमारे समाज के दो बड़े संस्थान एक जहां कानून बनता है, दूसरा जहाँ कानून लागू होता है, अर्थात न्यायालय और पुलिस विभाग, जहाँ वाचक के पिता और बड़े भाई कार्यरत है। वाचक अपने मित्र को न्याय दिलाने के लिए स्वयं अपने बड़े भाई जो पुलिस विभाग में अधिकारी (एस.एस.पी.) हैं, जो कि वाचक को बातों में ही भरमा देते हैं। वाचक को कुछ दिन बाद अपने बड़े भाई के असली चेहरे का एहसास होता है- 'बाद में एक पूरे के पूरे नक्सल गाँव को आग लगा देने के पुरस्कार स्वरूप उनकी तरक्की हो गई थी।' (वाचक के भैया)

इसी बीच नायक (शचिन) की न्यायालय में पेशी होनी है, वाचक अपने भाई से कोई हमदर्दी न पाकर, अपने पिता से मिलकर शचिन के बेकसूर होने का दावा करता है, किन्तु अंधी दौड़ में चल रही हमारी न्याय व्यवस्था को इस तथ्यविहीन अर्जी को ठुकरा देना था। और इस तरह वाचक की अपने मित्र को व्यवस्था के चंगुल से बचाने की अंतिम कोशिश भी नाकाम रह जाती है। मदद न कर पाने के पीछे वाचक के पिता शब्द थे- 'बेटे हम जिसे न्याय कहते हैं वह तथ्य सापेक्ष है, सत्य सापेक्ष नहीं।'

समय गुजरता है, वाचक अपने पिता की प्रतिष्ठा से प्राप्त किये शोधकार्य में लीन हो जाता है। इसी बीच वाचक का एक पुलिस अधिकारियों की पार्टी में जाना होता है, जहां वाचक का जो थोड़ा बहुत यकीन व्यवस्था में बचा होता है वह भी टूटने लगता है- 'अमा यार हमीं पर सारी तोहमतें क्यों? हम तो नाचने वाले हैं, नचाने वाला कोई और है'

इससे आगे बढ़कर जब शराब के नशे में धुत्त एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी कहता है कि कैसे अपने पतन का रास्ता स्वयं हमने ही चुना है- अरे साब! सत्ता के इस थोड़े से सुख में हमनें अपना क्या-क्या नहीं गंवाया...... जाति, धर्म, ईमान, सभ्यता, संस्कृति'।

आखिर व्यवस्था के चंगुल में फंसे शचिन को जीवनपर्यन्त इस चक्रव्यूह से निकलने का रास्ता क्यों नहीं मिलता। दरअसल यह व्यवस्था किसी को एकबार अपने जबड़े में दबा ले, उसके बाद वह व्यक्ति चाह कर भी उससे बाहर नहीं निकल सकता। शचिन की बहन (संघमित्रा) का जब जेल में ही मर्डर हो जाता है, तब शचिन को न्याय व्यवस्था में रत्ती भर भरोसा नहीं रहता। भरी अदालत में शचिन अपने पक्ष में कुछ न कहकर महज चंद अल्फ़ाज बोलता है, जो इस प्रकार है- 'मुझे इस प्रतिक्रियावादी भ्रष्ट तंत्र में कोई विश्वास नहीं है।'

वाचक का अपने घर-परिवार के सदस्यों के साथ-साथ, कानून व न्याय व्यवस्था से भी भरोसा टूटता जाता है और इसका चरम बिंदु तब आता है, जब शचिन के द्वारा संघमित्रा (वाचक का एकमात्र प्रेम, विज्ञान में विभाग की अव्वल रहने वाली छात्रा, टी.बी. के मरीज पिता की आखरी उम्मीद) का मृत्यु को प्राप्त होने का समाचार मिलता है। शचिन बताता है-

'शचिन - रानी को पूछ रहे थे न उस दिन?'

(वाचक) 'हां ! 'मेरी सारी चेतना सिमट आई उसके सवाल पर।

(शचिन) शी हेड बीन ब्रूटली बूचर्ड लॉंग एगो।'

उसके गुप्तांग में रूल घुसाकर... मथकर मारा गया।'

वाचक का शोध विषय 'अपराध' न्याय व्यवस्था और कानून दोनों सीधे तौर पर विषय से जुड़े हुए है। वाचक आत्मचिंतन करता है, न तो वह कानून के साथ मिलकर अपने मित्र के साथ न्याय कर पाया, और न ही अपने पिता के जज होते हुए वह न्यायालय से ही अपने मित्र के लिए कुछ कर पाया। अपना कीमती समय देकर पूरा किया गया शोध भी उसे निरर्थक लगने लगा। स्वकथन करते हुए वाचक कहता है- 'सुबह की लाली से लाल हुई गंगा को देखकर लगता है आदिम पाषाण युग से खून ही बहता रहा है इसमे!

क्या है मेरी और मेरे शोध की सामर्थ्य और सीमा? अपराध की लपलपाती बर्बर लपटों में..... उन्हीं लपटों में, जिनमें आहुति बनकर लाखों, करोड़ों निरपराध, निष्ठावान, तेजस्वी आत्माएं मेरा मित्र, मेरी रानी तक समा चुकी है। अपने हाथ सेंकने के सिवा यह क्या! इससे बढ़कर गर्हित अपराध और क्या हो सकता है! कर सकूँगा मैं सत्ता, व्यवस्था और समाज के तमाम अपराधी पुर्जों को जेल में...... शायद नहीं क्योंकि मैं परासाइट हूं उनका, क्योंकि वे मेरे अपने पिता, भाई, स्वजन, मित्र और औजार हैं... फिर यह शोध कैसा भद्दा मजाक है'

लेखक द्वारा इस कहानी को ऐसे मोड़ पर समाप्त कर देना पाठकों के मन में सवाल खड़ा करता है। क्या यह समाज, सत्ता और व्यवस्था यूँही चलती रहेगी? क्या यह कभी नहीं बदलेगी? फिलहाल तो इसके बदलने के कोई आसार नजर नहीं आते, किन्तु जब अच्छाई का अंत हुआ, तो बुराई का भी होगा और जरुर होगा। एक आशा और उम्मीद से भरा 'अकबर इल्लाह्बादी' का शेर याद आ रहा है -

'खींचों न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो'

सन्दर्भ सूची

– पाण्डेय, मैनेजर, उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण -२०१३, पृष्ठ -२३३
– कशिद सम. गिरीश, कथाकार संजीव, शिल्पायन प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली, संस्करण -२००८, पृष्ठ -३६
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२३
– लेख - डॉ. त्रिपाठी विश्वनाथ ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -१८
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२०
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२२
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -१९
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२२
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२७
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२८
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२५
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -२६
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -१८
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -३४
– संपादक - ऋषिकेश व रेणु राकेश, समकालीन हिंदी कहानियां, परिभाषा प्रकाशन, वितरक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण -१९९२, पृष्ठ -३४

●●

सर्जना और आलोचना
नई दृष्टि से कविता की परख

सुनील कुमार यादव

मकान नं. १५९, पुराणी चौपाल
धक्का विलेज, मुखर्जी नगर,
दिल्ली–११ ०० ०९

रचना और आलोचना का संबंध अन्योन्यश्रित होता है। रचना के आधार पर ही आलोचना के मानदंड निर्धारित होते हैं और आलोचना रचना को आधार प्रदान करती है। मुकुटधर पाण्डेय की दृष्टि में रचना आलोचना की अनुगमिनी नहीं होती है। लेकिन आलोचना या साहित्य-सिद्धांत रचना को प्रभवित ज़रूर करते हैं। रचना और आलोचना के पारस्परिक संबंध से साहित्य का विकास होता है। वास्तव में आलोचना सृजन कार्य की पथ प्रदर्शक होती है। इन बातों के आलोक में प्रो. चन्द्रदेव यादव की आलोचनात्मक पुस्तक 'सर्जना और आलोचना' बहुत महत्वपूर्ण है।

'सर्जना और आलोचना' सोलह लेखों का संग्रह है। यह पुस्तक 'हंस' प्रकाशन द्वारा इसी वर्ष प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। इसमें प्रकाशित लेखों का संबंध अदिकाल से लेकर समकालीन साहित्य तक से है। अतः इन लेखों के द्वारा केवल विभिन्न कालखण्डों में रचित साहित्य और उसकी प्रवृत्तियों को ही नहीं समझा जा सकता है, बल्कि उनके बारे में सोचने-समझने की नई दृष्टि भी मिलेगी। इस पुस्तक में कुल तीन खण्ड हैं–खण्ड एक, परम्परा से आगे; खण्ड दो, मुक्ति गान और खण्ड तीन, काल और हम । इसमें सम्मिलित सोलह लेखों में से पाँच का संबंध हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों से है। ये लेख हैं–रीतिकाव्य पर अपभ्रंश और संस्कृत साहित्य का प्रभाव, रीतिकालीन कविता का लोक, हिंदी के यात्रावृत्तांत : समय का सच और भविष्य का स्वप्न, यह कविता लिखने का समय नहीं है और लॉकडाउन, पलायन और स्त्री-संघर्ष ।

पहले खण्ड 'परम्परा से आगे' के लेखों के अध्ययन से स्पष्ट है कि कवि या लेखक अपने पूर्व की सहित्यिक रूढ़ियों, परंपराओं, भाषा एवं शिल्प से प्रभवित होता है। सामान्यतया रचनाकार परंपरा से सीखकर ही आगे बढ़ता है और सृजन करता है। इस पुस्तक के लेखक ने 'संदेश रासक' पर परंपरा के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए बताया है कि 'अद्दहमाण गाहा तथा दूसरे अन्य छंदों को लिखते समय संस्कृत-प्राकृत के ज्ञान भार से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाए हैं। लेकिन दोहों को उन्होंने बोलचाल के नजदीक वाली भाषा में लिखा है।' (पृष्ठ संख्या-३१) लेखक के मतानुसार संदेश काव्य की परंपरा कालिदास के मेघदूत से चली आ रही है और मेघदूत को पहले संदेश-काव्य का गौरव प्राप्त है। मेघदूत और अन्य प्रेमकाव्यों में भी संदेश भेजने की परंपरा का वर्णन किया गया है । अन्य संदेश काव्यों में संदेशवाहक का काम बादल या मानवेतर प्रणियों के द्वारा कराया गया है, जबकि संदेश रासक में यह कार्य एक पथिक से कराया गया है । यह अद्दहमाण की मौलिकता का परिचायक है। लेखक ने यहाँ प्रश्न भी उठाया है कि यद्यपि अद्दहमाण ने यह रचना सामान्य लोगों के लिए की थी, लेकिन इसकी नयिका सामान्य न होकर विशेष और संभ्रात कुल की है। लेखक की दृष्टि में अद्दहमाण द्वारा किया गया वेश्या-बाड़ा और सुन्दरियों का विलास वर्णन अप्रासंगिक लगता है। 'ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उस दौर में प्रेम और श्रृंगार का मतलब साधन-संपन्न लोगों का प्रेम और श्रृंगार होता था।

कवियों की दृष्टि प्रायः सामान्य स्त्री-पुरुष के प्रेम और श्रृंगार की ओर नहीं थी।' (पृष्ठ संख्या- २१)

आलोच्य पुस्तक के लेखक चन्द्रदेव यादव के अनुसार संदेश रासक में लोकसंस्कृति का स्वरूप प्राकृत काव्यों से भिन्न नहीं है, फिर भी इसमें नवीनता है। 'परम्परा से आगे' शीर्षक दूसरे खण्ड का लेख 'ढोला से मारू रा दूहा में लोकतत्व' है। लोक-समाज में सहज और सरल ढंग से जीवन जीने की कोशिश की जाती है। लोक समाज में पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाज, उत्सव, अंधविश्वास, पूजा, विधि-विधान, की भरमार होती है। ढोला मारू रा दूहा में ये सारे लोक तत्व मौजूद हैं। लेखक का विचार है–'प्रायः सभी रचनों जीवन से जुड़ी होती हैं, किन्तु सभी में लोक और लोकतत्व नहीं होते हैं। कुछ विरली कृतियों में ही लोकतत्व दिखाई पड़ते हैं। ढोला मारू रा दूहा ऐसी ही एक विलक्षण कृति है, जिसमें लोक तत्वों की भरमार है।' (पृष्ठ संख्या-३५) दूसरी तरफ लेखक यह प्रश्न उठाता है कि ढोला मारू रा दूहा के रचनाकार घटनाओं को इस तरह प्रस्तुत करते हैं, जिससे यह लगता है कि लोक-समाज में तर्किक क्षमता नहीं होती जैसे, चारण द्वारा मारवणी के वृद्ध हो जाने की बात हो या मालवणी द्वारा दूतों को सरहद पार मरवा देने के प्रसंग लेखक को असामान्य लगते हैं। लेखक की दृष्टि में ढोला मारू रा दूहा में स्त्री मनोदशा की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। कवि ने प्रतीकों के माध्यम से इन मनोदशाओं को व्यक्त किया है।

'रीतिकाल पर अपभ्रंश और संस्कृत साहित्य का प्रभाव' शीर्षक आलेख पढ़कर ही पता चल जाता है कि लेखक क्या बताना चाहता है। हर साहित्यकार अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से कहीं न कहीं प्रभवित अवश्य होता है। प्रो. चन्द्रदेव यादव ने मध्यकाल के दौरान रचे गए भक्ति और रीति संबंधी ग्रंथों का अध्ययन करने के बाद पाया है कि इस समय के अधिकतर काव्य या तो संस्कृत साहित्य से प्रभवित हैं, या प्राकृत और अपभ्रंश से। उन्होंने तुलसी, सूर, जायसी, कबीर, देव, घनानन्द अदि कवियों की कई काव्य-पंक्तियों और प्रसंगों को ऐसा पाया, जो संदेश रासक, नाथ साहित्य, सिद्ध साहित्य या संस्कृत के कवियों जैसे कालिदास, भारवि अदि से प्रभवित हैं। संदेश रासक के पद 'संदेसडउ सवित्तरउ, पर मइ कहणु ना जाइ । जो कालंगुलि मूंदडउ सो बाँहडी समाइ।' की तुलना तुलसीदास के बरवै रामायण के छंद 'अब जीवन कै है कपि आस न कोइ। कनगुरिया के मुंदरी कंकन होइ' से करें तो पाते हैं कि दोनों के कथ्य में अंतर नहीं है, बस छंद में अंतर है। (पृष्ठ संख्या-५२) इसी तरह रीतिकालीन कविताओं पर गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुकशतक अदि प्राचीन साहित्य का प्रभाव है। प्रो. चन्द्रदेव यादव ने इस काल पर अपभ्रंश और संस्कृत के प्रभाव को सोदाहरण, सप्रामाण दिखलाया है। लेकिन उन्होंने इन ग्रंथों की मौलिकता को नकारा नहीं है। तुलसीदास ने तो नाना वेदों और पुराणों से चीजें ग्रहण कीं, इसे उन्होंने ईमानदारी से बता भी दिया है। प्रो. चन्द्रदेव यादव ने इन महत्वपूर्ण लेखों को लिखकर शोधथिर्यों को बता दिया है कि इस क्षेत्र में शोध की बहुत संभावना है। यह लेख आसान शब्दों में पूरी बात कह जाता है। इसमें हर स्थापना के पीछे तथ्य रखकर बात की गई है। यही इसको महत्वपूर्ण बनाती है।

रीतिकाल के संबंध में प्रो. चन्द्रदेव यादव की दृष्टि साहित्य के अन्य आलोचकों से भिन्न है। सामान्यतः यह धारणा रही है कि रीतिकालीन कवि एवं उनकी कविताएं लोक निरपेक्ष हैं। इन कविताओं में मांसल प्रेम-श्रृंगार के साथ नख-शिख वर्णन की प्रधानता है और इनके केंद्र में मुख्यतः भोग-विलास में डूबे रहने वाले सामंती वर्ग के लोग ही हैं। चन्द्रदेव यादव इस बात को पूरी तरह सत्य नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि श्रृंगरिकता, दरबारीपन और भोग-विलास से इतर रीतिकालीन कविताओं में मौजूद लोक जीवन और उससे संबद्ध घटनाओं पर जाती है। रीतिकालीन कवियों को उनके समय में होने वाली राजनीतिक एवं ऐतिहासिक उथल-पुथल से अनभिज्ञ माना जाता है; जबकि इस पुस्तक के लेखक की दृष्टि उधर भी गई है जहाँ पद्माकर जैसे कवि हैं जिनकी कविताओं में स्वराष्ट्र तथा स्वधर्म की रक्षा करने वाले प्रेरक तत्त्व हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है–

मीनागढ़, बंबई, सुमंद, मंदराज,बंग
बंदर को बंद कर बंदर बसावैगो,
कहै पद्माकर कसकि कासमीर हू को
पिंजर सों घेरि के कलिजंर छुड़ावैगो।
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं
सजि दल पकरि फिरंगिन भगावैगो। (पृष्ठ संख्या-

८५)

रीतिकाल में अधिकतर राजसी जीवन और स्त्री-भोग का वर्णन किया गया है, वहाँ सामान्य लोगों का जीवन अनुपस्थित-सा है, लेकिन ऐसा नहीं है। लेखक की दृष्टि सेनापति की उस कविता तक पहुंची है जिसमें स्तनपान कराने वाली स्त्री का सुंदर वर्णन किया गया है–

जरद बदन, पान खाए से रदन, मानौं
हरद सरद-चंद दुति दिखावति है,
चीकने चिकुर छूटि रहे हैं विसाल भाल
बाँधी कसि पट्टी सेनापति रिझावति है।
कीने नत नैन; देखे मुख-चंद नंदन कौं,
अंक लै मयंक-मुखी तहि मल्हावति है
बों कर होरिल कौं सीस राखि दाहिने सौं
गहे कुच प्यारी पयपान करावति है। (पृष्ठ संख्या -७८)

प्रो. चन्द्रदेव यादव द्वारा आधुनिक काल की शुरुआत को लेकर उठाया गया प्रश्न विचारणीय है; 'इस तथ्य को हम क्यों नहीं स्वीकार करते हैं कि रीतिकाल के अखिरी दौर में ही आधुनिकता की शुरुआत हो गई थी अथवा आधुनिक काल की शुरुआत फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के साथ हुई।' (पृष्ठ संख्या-८८)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल के कवि घाघ, वृन्द, गिरिधर कविराय अदि को कवि मानने से इन्कार करते हुए उन्हें मात्र सूक्तिकार कहा है, जबकि प्रो. चन्द्रदेव यादव की दृष्टि में इन कवियों ने ही सच्चे अर्थों में लोक जीवन का सहज रूप प्रस्तुत किया है। घाघ का एक पद 'भुइयां खेड़े हर हों चार / घर हो गिहथिन गऊ दुधार / अरहर की दाल जड़हन का भात / गागल निबुआ और घिउ तात / खाँड़ दही जौ घर में होय / कहैं घाघ तब सबहीं झूठा / उहाँ छोड़ इहंवे बैकुंठा।' (पेज संख्या-९२) इस कविता में लोक जीवन का सहज रूप देखा जा सकता है। लेखक का विचार सही है कि इससे अधिक सुखमय लोक जीवन की परिकल्पना और क्या हो सकती है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड 'मुक्तिगान' में सम्मिलित लेख हैं–नारी जागरण और मल्लिका, देवकीनंदन खत्री की भाषा, सुमित्रानंदन पंत : काव्य-कला और जीवन मूल्य, सामजिक प्रतिबद्धता और राहुल सांकृत्यायन और जागरण के कवि गोपाल सिंह नेपाली। 'नारी जागरण और मल्लिका' नामक लेख में प्रोफेसर यादव ने हिंदी आलोचकों द्वारा उपेक्षित मल्लिका की प्रगतिशील दृष्टि और क्रांतिकारी तेवर को देखा है। लेखक ने मल्लिका के लघु उपन्यास 'पूर्ण प्रकाश' के माध्यम से उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि मल्लिका भारतीय नवजागरणकालीन किसी भी अन्य रचनाकारों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील हैं। वे पितृसत्तात्मक समाज की सोच पर प्रहार करती हैं। चाहे कुलीनता का प्रश्न हो या विधवा-विवाह का या फिर परित्यक्ता स्त्रियों की समस्या का, उन सबके प्रति उनका नजरिया प्रगतिशील रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी खड़ीबोली हिन्दी गद्य के सुधार और परिष्कार की शताब्दी थी। उस दौर में जहाँ एक तरफ संस्कृतनिष्ठ और फारसीनिष्ठ भाषा का संघर्ष चल रहा था, वहीं देवकीनंदन खत्री ने इस पचड़े में फंसने के बजाय हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया और चन्द्रकांता तथा चन्द्रकांता संतति की रचना की। प्रो. चन्द्रदेव यादव का मानना है कि उन्नीसवीं सदी में हिन्दी के कई उपन्यासकारों में भाषाई दोष दिखाई देता है, जबकि खत्री प्रायः इससे मुक्त हैं। देवकीनंदन खत्री की भाषा और चन्द्रकांता को लेकर उनके विचार निम्नवत हैं–

१. इस उपन्यास में भले ही नवजागरण की तस्वीर नहीं दिखाई पड़ती है, लेकिन उसका भषिक रूप तो उसी सांस्कृतिक जागरण से जुड़ा हुआ है, जिसके लिए भारतेंदु और उस युग के दूसरे लेखकों को याद किया जाता है। (पृष्ठ संख्या-११६)

२. खत्री का सबसे बड़ा योगदान यह नहीं है कि उन्होंने हिंदी में उपन्यास विधा को प्रचलित किया या उन्होंने चन्द्रकान्ता का उर्दू में अनुवाद न करा के हिन्दी न जानने वालों को हिन्दी सीखने के लिए मजबूर किया, बल्कि उनका सबसे बड़ा योगदान हिन्दी को एक नई कथा-भाषा देने में है।(पृष्ठ संख्या-११६)

'काल और हम' शीर्षक तीसरे खण्ड में सात आलेखों को शमिल किया गया है। पहला आलेख परदे की पीछे की दुनिया है। इस आलेख में बॉलीवुड, सिनेमा जगत की स्वार्थपरता, संवेदनहीनता और नए कलाकारों के संघर्ष के साथ यौन शोषण की समस्या को बखूबी दर्शाया गया है। सिनेमा जगत आधुनिक बनने की होड़ में संबंधों को भुनाता है और सफलता मिलते ही अपने लोगों को भूल

जाता है। आलोच्य पुस्तक के लेखक ने इन समस्याओं को बारीकी से समझाने के लिए राही मासूम रजा के दो उपन्यासों 'सीन ७५' और 'दिल एक सादा कागज' का सहारा लेता है। नई लड़कियों को फिल्म में रोल देने से पहले डायरेक्टर, प्रोड्यूसर, हीरो कैसे उसका यौन शोषण करते हैं, इसे राही मासूम रज़ा के उक्त दोनों उपन्यासों में देखा जा सकता है।

दूसरे लेख 'हिन्दी के यात्रा वृत्तांत : समय का सच और भविष्य का स्वप्न' के ज़रिये इक्कीसवीं सदी के हिन्दी के यात्रा वृत्तांतों के स्वरूप में हुए बदलाव को समझा जा सकता है। तीसरा और चौथा आलेख क्रमशः यथार्थ और विचारधारा के द्वंद्व की कहानियाँ और गँवई संवेदना का कवि विवेकी राय हैं। पाँचवाँ आलेख 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' सुप्रसिद्ध चिंतक और आलोचक पी.एन. सिंह की कविताओं पर आधरित है। लेखक ने लिखा है कि पी. एन. सिंह ने कुकविता के विरोध में कविताएं लिखना शुरू किया। प्रो. चन्द्रदेव यादव ने पी.एन. सिंह को हमारे समय का एक जागरूक कवि, महत्वपूर्ण चिंतक माना है। पी.एन. सिंह की कविताओं की वैचरिकी के केंद्र में राजनीति और सत्ता-व्यवस्था दिखाई देता है। प्रो. चन्द्रदेव यादव ने लिखा है–'निष्प्रभ आईना की कविताएं कई दृष्टियों से हिन्दी की विरल एवं विशिष्ट सृजनात्मक उपस्थिति हैं। चिंतक एवं विमर्शकार डॉ. पी.एन. सिंह की ये कविताएं समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य के प्रति उनके असंतोष की रचनात्मक अभिव्यक्ति हैं।'

छठा आलेख 'यह कविता लिखने का समय नहीं है' लॉकडाउन के समय लिखा गया था। इसमें लेखक ने कोरोना के समय लिखी गयी कविताओं की प्रासंगिकता को बताया है। कोविड-१९ मानव जति के अस्तित्व पर आया सबसे भीषण संकट था। कोरोना से लोग मर रहे थे; लॉकडाउन ने लोगों को घरों में कैद कर दिया था। मजदूरों की दशा दयनीय हो गई थी, अनेक स्त्रियों, बच्चों और मजदूरों ने पैदल घर लौटते हुए रास्ते में दम तोड़ दिया था। बहुत से लोग दुर्घटनाओं के शिकार हुए। ऐसे नाजुक वक्त में कोरोना पीड़ितों और लॉकडाउन से प्रभवित लोगों की पीड़ा को कवियों ने कविताओं और दूसरी विधाओं के द्वारा व्यक्त किया। कविताओं के माध्यम से शासन की लापरवाही पर प्रश्न किए गए। अनेक आलोचकों और लेखकों ने इस तात्कालिक साहित्य-सृजन पर प्रश्न उठाया और कहा कि ये कविताएं तात्कालिक कविताएं हैं, इसलिए इनका कोई दीर्घकालिक महत्व नहीं है। उच्च कोटि के सार्वकालिक और सार्वभौमिक साहित्य का सृजन किसी त्रासदी के गुज़र जाने के बाद ही लिखा जा सकता है। तात्कालिक साहित्य का सृजन और अखबारी रिपोर्ट में कोई फर्क नहीं है। कहा गया कि यह कविता लिखने का समय नहीं है। यानी इस दौर में जो टनों कविताएं लिखी जा रही हैं, वे निरर्थक हैं। इन्हीं प्रश्नों और आक्षेपों के उत्तर में आलोचक चन्द्रदेव यादव ने यह विस्तृत लेख लिखा। प्रोफेसर यादव ने लिखा है–'निस्संदेह कोरोना काल में लिखी गई कविताएं अपने समय का ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। ये कविताएं अपने समाज से संवाद कायम करने की कोशिश करती हैं। बहुत-सी कविताएं अपने रूप-विन्यास और कविताई के पैमाने पर भले ही कालजयी रचना न बन पों, लेकिन वे तात्कालिक धर्म का निर्वाह करने में सफल हुई हैं। इन कविताओं में एक विराट त्रासदी को लघु-लघु रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इनमें किसी एक से कोरोना महामारी से उत्पन्न त्रासद और अमानवीय स्थिति का नक्शा नहीं उभर पाता, किन्तु सबको मिलाकर पढ़ने से उसका सम्यक बोध हो जाता है।' इस दौर की कविताएं, मजदूरों, स्त्रियों, अंधविश्वास, मीडिया, और सत्ता की निरंकुशता पर आधरित थीं। इस खण्ड का अंतिम लेख 'लॉकडाउन, पलायन और स्त्री-संघर्ष' है। यह लेख लॉकडाउन के दौरान की भयावह त्रासदी, मजदूरों के पलायन तथा स्त्री- मजदूरों की दयनीय स्थितियों एवं उनके संघर्ष पर आधरित है। पलायन का कारण क्या है? गाँव की अधिकतर बेरोजगार आबादी रोजगार की तलाश में शहर जाने को विवश होती है । लेखक पलायन को एक गंभीर समस्या मानता है। उन्होंने पलायन जैसे गंभीर मुद्दे पर आंकड़ों के माध्यम से बात की है। प्रो. चन्द्रदेव यादव कहते हैं कि भारत में सामान्य ग्रामीणों के लिए यह प्रायः रोजी-रोटी के लिए पलायन है, जबकि अदिवसियो के लिए यह जंगल और जमीन की लड़ाई से जुड़ा हुआ है।' इस आलेख में लेखक ने कोरोना के समय स्त्रियों की दयनीय स्थिति का जिक्र किया है; चाहे व प्रसव-पीड़ा से परेशान स्त्री रही हो या अपने दुधमुँहे बच्चे को पैदल लेकर जा रही स्त्री हो। पलायन के दौरान ही कई जगह

स्त्रियों के साथ दुष्कर्म भी हुए। इस विकट स्थिति में ज्योति जैसी लड़कियों ने नया कारनामा भी किया, जिसने साइकिल से गुड़गांव से दरभंगा तक की यात्रा कर डाली। कृष्ण कल्पित ने 'डूब मरो' शीर्षक कविता में ज्योति की तारीफ की–मैं तुम्हारे तलुओं पर / जैतून के तेल की मलिश करना चाहता हूँ / गुरुग्राम से दरभंगा तक / अपने घायल पिता को कैरियर पर बिठाकर / ले जाने वाली स्वर्णपरी / मैं तुम्हारी जय-जयकार करना चाहता हूँ। इसी तरह महेश आलोक की कविता 'इस व्यवस्था की ऐसी की तैसी' कविता की पंक्तियाँ हैं–'वह चुपचाप चली जा रही है / राष्ट्रीय राजमार्ग पर / पसीने से लथपथ उसका शरीर / अभी इतना जीवित है / कि हवा भी डर रही है / कि हल्का सा झोंका भी उसकी / जिजीविषा को भंग न कर दे / बच्चे को अपने ब्रीफकेस घर लटकाये / वह ढो रही है उसे एक वस्तु की तरह।' इस दौर में स्त्री-संघर्ष को लेकर जो कविताएं लिखी गईं , लेखक ने उन्हीं कविताओं को आधार बनाकर अपनी बातें कही हैं। प्रो. चन्द्रदेव यादव ने इन कविताओं को काफी महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक दस्तावेज माना है। उनकी राय में बाद के समय में यही कविताएं कोविड के दौर की भयावह स्थिति को जानने, समझने का महत्वपूर्ण माध्यम बन सकती हैं। इन कविताओं में आज के मनुष्यों की जिजीविषा और उनके जीवन-संघर्षों को देखा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि इस खण्ड के सभी आलेख अपने आप में महत्वपूर्ण हैं। इसके अंतिम के दो आलेख कोरोना काल पर केन्द्रित हैं। इस दौरान लिखी गईं कविताओं को लेखक ने महत्वपूर्ण माना है। हर रचना क्लासिक और कालातीत नहीं होती है। अधिकांश रचनों अपने समय की जरूरतों को ध्यान में रखकर लिखी जाती हैं। इसलिए ये रचनों उस काल को जानने, समझने के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। इन दो आलेखों के माध्यम से प्रो. चन्द्रदेव यादव कोविड, पलायन और स्त्री-संघर्ष पर लिखी गई कविताओं के महत्व को बताने और समझाने में सफल हुए हैं।

आलोच्य पुस्तक काफी महत्वपूर्ण है। यह हिंदी साहित्य को समझने एवं जानने के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती है। इस पुस्तक की भाषा सरल है जो न केवल आलोचकों और शोधार्थीयों, बल्कि सामान्य पाठक में भी अध्ययन के लिए रुचि पैदा करेगी।

आलोच्य पुस्तकः सर्जना और आलोचना
लेखक : प्रो. चन्द्रदेव यादव
प्रकाशक : हंस प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : २०२४, संस्करण : प्रथम
मूल्य : ८९५

संपर्क :
सुनील कुमार यादव
मकान नं. १५९, पुराणी चौपाल
धक्का विलेज, मुखर्जी नगर,
दिल्ली–११ ०० ०९